नया हिन्दी साहित्य : एक दृष्टि

: लेखक :

प्रकाशचन्द्र गुप्त

तृतीय संस्करण : जुलाई, १९४६
मूल्य २॥)

—मुद्रक—
श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस।

स्वर्गीया रामेश्वरी गोयल

को

आवेदन ।

यह पुस्तक एक लम्बे अर्से तक लिखे निबन्धों का सग्रह है । इस बीच में लेखक का प्रगतिवादी दृष्टिकोण उत्तरोत्तर परिष्कृत हो रहा था और साहित्यो की गति भी निरन्तर बदल रही थी । इस कारण इन लेखों में अनेक त्रुटियाँ हैं । उनके लिए लेखक क्षमा-प्रार्थी है ।

पुस्तक में केवल साहित्यिक प्रवृत्तियो का ही दिग्दर्शन है । सपूर्णता का दावा पुस्तक नहीं करती । अनेक कवि और लेखक जिनका आलोचक आदर करता है, इन निबन्धों मे छूट गये हैं ।

प्रयाग, प्रकाशचन्द्र गुप्त ।

१ जून, १९४६ ।

लेख-सूची

हिन्दी साहित्य की प्रगति

१

मनुष्य निरन्तर अपने वातावरण से युद्ध करता है और प्रकृति की विराट् शक्तियो के विरोध मूल अपने में नया बल अनुभव करता है। इस संघर्ष मे उत्पन्न हुई अनुभूतियो को वह कला से सजाता है। इस प्रकार काव्य, संगीत, चित्रकला आदि का जन्म होता है। भारत के कृपि-प्रधान आर्यों ने अपने अनुभव को वेदो की ऋचाओं में बन्दी बनाया; दूर अमरीका के 'रेड इडियन्स' ने अपने आखेट जीवन के चित्र अपनी गुफाओ की दीवारो पर बनाये; किन्तु उनकी मूल प्रेरणा एक ही थी; स्थूल जीवन से संघर्ष का अनुभूतिरंजित वर्णन।

आगे चलकर संस्कृति के विकास के साथ संघर्ष-भावना अदृष्ट होती दीखती है, किन्तु मूल स्रोत में अवश्य रहती है। इस प्रकार कला मनुष्य के भौतिक जीवन का प्रतिबिम्ब है और संघर्ष-विस्मरण का प्रयास।

संस्कृति का इतिहास आदिम काल की सामूहिक संस्थाओ से आरम्भ होता है। मनुष्य ने सभ्यता का पहला पाठ सबके साथ मिल-बॉटकर खाना सीखा। कृपि-समाज के साथ भूमि व्यक्ति की सम्पत्ति बनी और समाज दो भागो मे बॅट गया; एक वर्ग के हाथ में सत्ता थी, दूसरा शासित था। शताब्दियो से कला शासक वर्गों की भावनाओ का प्रतिबिम्ब रही है, क्योकि शासित वर्ग के पास अपनी भावनाओ की अभिव्यक्ति के कोई साधन न थे। शासित वर्ग की भावनाएॅ लोक-गीतो मे और अन्य रास्तो से प्रसार पाती रहीं। लेकिन यह कला दबी-दबी जीवन-यापन करती रही।

शासक वर्ग की कला को हम एक ऐतिहासिक क्रम में देख सकते हैं, यद्यपि सब देशो मे एक साथ यह क्रम नहीं मिलता। संगठित

समाज से पहले भी कला के चिह्न हमें मनुष्य के इतिहास में मिलते हैं। आखेट-जीवन में भी कला के अणु थे। भारत के भील अथवा अफ्रीका के बौने अपने धनुष-बाण, भाले और कटार कला से सजाते हैं। कुछ बर्बर जातियाँ अपने शरीर को लाल-नीले रंगों से रँगती थीं जिससे शत्रु भयभीत हो जायँ। गोचर समाज में कविता का अनन्य विकास हुआ, इसका उदाहरण आर्य और यहूदी जातियों का प्राचीन साहित्य है।

कृषि-प्रधान समाज में कला चरमोन्नति पर पहुँची, इसका साक्षी मिस्र, बैबिलोन, ऐसीरिया, यूनान, रोम, भारत और चीन का इतिहास है। शासक-वर्ग की संस्कृति का यह उषःकाल था और उसमें गति और शक्ति थी। इस संस्कृति के सर्वेसर्वा समाज के ब्राह्मण पंडित थे, क्योंकि उन्हीं के मंत्रों के बल वर्षा होती थी।

कृषि-प्रधान समाज कालान्तर में सामन्ती समाज में परिणत हुआ, जब उत्पादक शक्तियों का प्रबन्ध सामन्तों के हाथ में आया। सामन्ती वर्ग भूमि के स्वामी थे और दासों के श्रम पर उनका जीवन अवलंबित था। सामन्ती समाज के अनुरूप उनकी कला का भी विकास हुआ जिसमें अनन्त अवकाश-प्राप्त व्यक्तियों के विलास और क्रीड़ा का चित्रण था : "गलीचा, गुनीजन, तान-तुक-ताला, मसाला, चित्रकला" आदि। सामन्ती समाज की कला शृंगार में इतनी विभोर हुई कि उनकी साधना भी इसी रंग में रँग गई। राधा और कृष्ण उनकी कला के नायक-नायिका बन गये। इस कला की मधुरिमा स्वास्थ्यकर किसी प्रकार भी न थी।

सामन्ती संस्कृति का एक विशेष अवयव भारतीय संगीत है। अनन्त अवकाश-प्राप्त समाज में ही इसकी साधना सफल हो सकती है। कमल के फूल की पंखुड़ियाँ अथवा आइन्सटाइन के किसी 'फॉर्म्यूला' के समान भारतीय राग की आत्मा खुलती है, और ध्वनियों के दुहराने में घंटों के संयम की आवश्यकता है। मध्य युग के उन मनोहर नक्शों को हमारे संगीतकार आज भी दुहरा रहे हैं और भारतीय संगीत एक

बहुत ही संकुचित वर्ग की पूँजी बन गया है जिसका उपभोग पूरा शासक वर्ग भी नहीं कर सकता। समाज की रूप-रेखा में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो चुके; अब न वह समाज है, न उतना अवकाश; फिर भी एक स्थावर संस्कृति का भार लिये इस गतिशील युग में हम चलना चाहते हैं। कीर्त्तन, क़व्वाली अथवा आल्हा के समान बोधगम्य संगीत हमें भविष्य में विकसित करना होगा, यद्यपि उसकी प्रेरणा पुजारी अथवा सामरिक जीवन से न हो सर्वसाधारण के जीवन से होगी।

मध्य युग के शासित-वर्गों में भी सदियों के उत्पीड़न से कविता का जन्म हुआ जो भौतिक जीवन को भुलाकर अदृष्ट मे लीन होने की कामना लेकर आई। निम्न शासित वर्गों की भौतिक जीवन के प्रति यह स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। इस जीवन में आशा के कोई चिह्न न देख ब्रह्मरन्ध्र में उन्होने अपने प्राण खींच लिये और कहने लगे, यह जग सब माया का खेल है:—

> साधो एक रूप सब मांही
> अपने मन विचारि के देखो और दूसरा नाहीं। (कबीर)

अथवा

> 'जो नर दुख में दुख नहि मानै।
> सुख सनेह और भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै।...' (नानक)

इस प्रकार उनके पीड़ित हृदय को अध्यात्म का "मधु-मरहम" मिला। किन्तु यह कवि विद्रोही कवि भी थे और उन्हें प्रचलित समाज-व्यवस्था किसी प्रकार स्वीकार न थी।

क्रमशः सामन्ती समाज का ह्रास हुआ और उसका स्थान एक नवीन उत्पादन-पद्धति ने ग्रहण किया। पुराने शासक धूल में मिल गये और एक नवीन वर्ग ने सिर उठाया। इस वर्ग ने उत्पादन-शक्तियों का अपूर्व विकास किया और वर्ग-संस्कृति को अनेक कदम आगे बढ़ाया। किन्तु यह व्यवसायी संस्कृति 'अर्थ' को उसी प्रकार अपना सर्वस्व मानती है, जैसे सामन्ती संस्कृति 'काम' को। अपने

उदीयमान 'स्टेज' में इस संस्कृति ने कविता, उपन्यास और चित्रकला को ख़ूब विकसित किया, किन्तु आज जब उसके प्राण संकट में हैं, उसने कला से वैरभाव लिया है। इस वर्ग-संस्कृति के शासन में कविता ससार से विलीन हो रही है, रंगमंच सूने पड़े हैं और कलाकार अंदर ही अंदर घुटकर टोलर के समान आत्महत्या कर लेते हैं।

कविता से पूँजीपति कुछ अधिक न कमा सके। नाटक के स्थान पर उन्होंने सिनेमा और सङ्गीत-प्रहसन चालू कर करोड़ों बनाये। इस कला में जीवन का बहुत नीचा मूल्यांकन है। धन-उपार्जन का सर्वोत्तम साधन इन्हे उपन्यास मिला। इस युग में शिक्षा और छापे का काफी प्रसार हुआ और इसके फलस्वरूप कहानी लोक-प्रिय बनी। इस कहानी का मूल आधार शासक वर्ग की मनोरञ्जन-वृत्ति और रस-प्रेरणा थी, अतः उपन्यासकार अपने वर्ग-जीवन का शाश्वत-त्रिकोण—यानी अ ने व से प्रेम किया, व ने स से, स ने अ से—अपनी कृति में बार-बार दुहराने लगा। इस कारण कुछ ही समय बाद साहित्य के इस नये अंग में भी कुछ बल न रह गया और वह निर्जीव, मृतप्राय होने लगा।

मध्यम-वर्ग की संस्कृति आज क्षयग्रस्त है। शासक-दल दो टुकड़ियों में बँट प्राणघातक समर में लीन है। जगत् के अधिकांश साहित्यकार अपने वर्ग-बंधन से असहाय इस ताण्डव नर्त्तन को देख रहे हैं और कुछ कर नहीं पाते। किन्तु फिर भी कुछ महान् विचारक जैसे रोम्याँ रोलाँ, आइन्सटाइन, शॉ, वेल्स, टैगोर इस दलदल से अपने वर्ग का शकट निकालने में प्राणपण से लीन रहे हैं। किन्तु उनका स्वर अरण्य में रोदन के समान है।

शासक-दल अब साहित्य और कला का बहिष्कार करने लग गया है। वह कविता की अपेक्षा बम से अधिक रुपया कमा सकता है। उसके ध्वंसात्मक खेल से कलाकार ग्लानि भी करने लगे हैं। कला वर्ग-स्वार्थों का पूरी तरह सङ्कट काल में साथ नहीं दे रही। अतः पश्चिम में रही-सही विचार-स्वतन्त्रता भी नष्ट हो रही है। जर्मनी में

गाड़ियाँ भर-भर किताबें जला दी गईं, फ्रान्स के बन्दी-गृह वाम-पार्श्व के कलाकारों से पटे पड़े थे। हमारे देश में स्वतन्त्र विचारो की पुस्तकें घुसने ही नहीं पातीं।

आज मध्य-वर्ग की संस्कृति संक्रान्ति काल में है। उसके त्राण की भी कोई आशा नही। इस संस्कृति के भग्नावशेषों को हटाकर हम एक नवीन विराट् संस्कृति की नींव रक्खेंगे जो विशेष वर्ग की पूँजी न होकर एक वर्ग-हीन समाज की जीवन-प्राण होगी। वायु और जल के समान वह भविष्य में सर्वहारा के लिए उपलब्ध होगी। 'अर्थ' और 'काम' की साधना अथवा शृंखला न बन वह मनुष्य के आगे बढ़ने का पथ प्रशस्त करेगी।

मनुष्य का जीवन गतिशील है। संकुचित विचारों की परिधि में फँसे कुछ कलाकार यद्यपि गति-रुद्ध हैं, जीवन की शक्तियाँ हमें आगे बढ़ाती ही रहती हैं। इन शक्तियो की गति में कुछ क्षणो के लिए हम अवरोध डाल सकते हैं, किन्तु सदैव के लिए उन्हें रोक नहीं सकते। हमें निश्चय करना है, क्या साहित्य समाज की प्रगति में सहायक बनेगा, अथवा तटस्थ रहने के भ्रम मे प्रतिगामी शक्तियों की मदद करेगा।

सर्वहारा की सेना आगे बढ़ रही है। उसकी विजय निश्चित है। नवीन-समाज योजना शोषण और शोषक दल का सदा के लिए अन्त कर देगी। नवीन संस्कृति इतिहास में पहली बार जनसत्तात्मक होगी। तब आदिम युग का अन्त होगा और सच्ची सभ्यता का आरंभ। उस सभ्यता की कल्पना करना भी हमारे लिए दुष्कर है।

उस सभ्यता के युग में पृथ्वी, जल, वायु पर मनुष्य-मात्र का अधिकार होगा। रंगमंच, सिनेमा-गृह, चित्रशालाएँ, रेडियो और संगीत की ध्वनि से मुखरित पार्क सर्वसाधारण के लिए खुले होंगे, आवश्यकता के अनुसार साहित्य और कला की सामग्री सभी को उपलब्ध होगी। तब पहली बार मनुष्य स्वतन्त्र और सुसंस्कृत होगा। प्रगति का अगला क़दम मनोवैज्ञानिक गुत्थियो को सुलझाना होगा। तब समाज में न चोर होंगे, न पागल।

इस महान यज्ञ में साहित्यिकों का सहयोग युग-धर्म माँग रहा है। यही प्रगति का पथ है। समाज का संकट देखते हुए कलाकार के लिए और कोई रास्ता नहीं रह गया है।

२

आज हमारे देश में एक नया जीवन और उत्साह है। इस पुनर्जन्म का संदेश साहित्य की रग-रग और कोपलों तक में पहुँच चुका है। अब हम किस दिशा की ओर बढ़ें यह प्रश्न हमारे सामने उठता है।

साहित्य जीवन से बँधा है। जब वह जीवन से अलग हो जाता है, तभी उसका पतन शुरू होता है। हिन्दी की अखंड काव्य-धारा जीवन के स्रोत से ही फूटकर निकली थी। तुलसी, सूर, मीरा अथवा कबीर की पदावली देश के प्रतिनिधि-भावों से प्रेरित हुई थी, जैसे देश का मूक जीवन अनायास ही मुखरित हो उठा हो। यही कारण है कि तुलसी और सूर हिन्दी साहित्य के अमर कलाकार हैं।

रीतिकाल की कविता हल्की उतरती है, क्योंकि उसकी प्रेरणा भारतीय जन-समाज की आशा, आकांक्षाएँ न थीं, वह केवल उच्चवर्ग की विलास-सामग्री बन गई थी।

आज यद्यपि हमारे साहित्य का काया-कल्प हुआ है और जीवन-भार से हिन्दी आकुल-सी है, यह आशंका हमारे मन में उठती है कि हमारा साहित्य मध्य-वर्ग की संस्कृति के खँडहरों पर अश्रुपात करता ही न रह जाय!

पुराने युग का अन्त और नये का जन्म—हम देख रहे हैं। भारत में ही नहीं, सारे संसार में। प्रत्येक जन्म के साथ पीड़ा रहती है। इस विलीन होती हुई मध्य-वर्ग की संस्कृति का जितना अच्छा 'Swan Song' गाल्जवर्दी ने गाया, शायद किसी और कलाकार ने नहीं। वही मर्सिया आज हम हिन्द्री के काव्य में भी सुनते हैं। अपने साहित्य की इस अन्तर्वेदना को समझने के बाद नई आशा, अभिलाषाएँ, देश के जीवन में होती हुई क्रान्ति और भावों के संघर्ष हम कला में प्रतिबिंबित देखना चाहते हैं।

हमारे कवियों ने जीवन से मुख मोड़ 'अनन्त' को अपना राग सुनाया है। हमारे कहानीकार केवल मध्य-श्रेणी के जीवन-चित्र खींचने में लगे हैं। प्रेमचन्द ने अवश्य ही फ़ैक्टरी और बाजार-हाटों में जो नई पुकार उठी है, उसे सुना था और उनकी कला मे हमें इसकी प्रतिध्वनि मिलती है। हिन्दी के एकाकी नाटककार 'प्रसाद' अतीत के सुनहले सपने देखने में तल्लीन जीवन के दुःसह दुःस्वप्न न देख सके।

पन्त के 'परिवर्त्तन' में देश का क्रन्दन व्यापक नाद कर उठा है। कवि के हृदय की अन्तर्वेदना यहाँ विवश हाहाकार कर उठी है।

'आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस

वही मधुऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिञ्चनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार!

आज पावस-नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल;
प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल!

अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल;
कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार;

गूँजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार!!'

'रूपाभ' के जन्म-काल से पन्तजी के काव्य का भी पुनर्जन्म हुआ है और आपके 'छन्द के बन्ध' खुल गये हैं। 'ग्राम्या' अभी तक पन्त की सर्व-मंगल कृति है।

'निराला' के काव्य में एक नया ही गति-प्रवाह और सङ्गीत है। जब वे स्वयं अपनी कविता पढ़ते हैं तो उनके स्वर की गम्भीरता और सङ्गीत-ज्ञान के कारण मन पर काफी प्रभाव पड़ता है। काव्य-परम्परा से उनका घोर विरोध है विशेषतः 'टेकनिक' के मामले में। आपने मुक्त छन्दों में कविता की है और कभी-कभी आपकी पंक्तियों का भग्न सङ्गीत हमको ब्राउनिंग का स्मरण दिला देता है, जैसे पन्त के लम्बे बाल और उनका मधुर व्यक्तित्व शेली का। 'निराला' के काव्य में नव-युग की प्रतिध्वनि हमें स्पष्ट मिलती है :

'हमारा डूब रहा दिनमान !
मास-मास दिन-दिन प्रतिपल
उगल रहे हों गरल-अनल,
जलता यह जीवन असफल;
हिम-हत पातों-सा असमय ही
झुलसा हुआ शुष्क निश्चल !
निकल डालियों से
झरने पर ही हैं पल्लव-प्राण !
हमारा डूब रहा दिनमान !'

भिक्षुक के प्रति आप कहते हैं :

'वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनो मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।'

निराला हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि हैं और नये युग के निर्माण में उनका हाथ भी काफी रहा है। आपके सुन्दर गीत पढ़कर हम यह भी सोचते हैं कि शायद किसी और युग तथा काल में केवल मधुर

गीत बनाने में आप तल्लीन रहते। अनायास ही फूल के समान आपका स्वर विकसित हो उठता है :

'प्रिय, मुद्रित दृग खोलो!
गत स्वप्न-निशा का तिमिर जाल
नव किरणों से धो लो—
मुद्रित दृग खोलो!'

आजकल 'निराला'जी 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में एक नये संगीत और दलितों के प्रति सदय भाव की सृष्टि कर रहे हैं।

श्री महादेवी वर्मा का काव्य आँसुओं से भीगा है। कौन जाने बुद्ध की विचार-धारा का यह प्रभाव है, अथवा उनके अपने जीवन की कोई भारी पीड़ा? शायद नष्ट होती हुई संस्कृति की यह अन्तिम उसासें हों। आज श्रीमती वर्मा के गीत बहुत ही सुकुमार और मीठे हो उठे हैं :

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल!
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल :
प्रियतम का पथ आलोकित कर!
सौरभ फैला विपुल धूप बन;
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु गल गल!'

जग के राग-द्वेष से अलग मानो कवि ने यह प्रेम का अलख जगाया है! आशा है इन गीतों का जुगनू-सा आलोक प्रेमी का पथ सदा आलोकित करता रहेगा।

प्रेमचन्द गाँव में बहुत रहे थे। ग्रामीणों के हृदय की बात वह ख़ूब समझते थे। भारतीय किसान को अभी तक इतना सफल साहित्यिक प्रतिनिधि और नहीं मिला। प्रेमचन्द सफल कलाकार होने के साथ-साथ देश के जीवन से बँधे थे। काल की गति के साथ उनकी कला का मूल्य कम न होगा, वरन् अधिक ही आँका जायगा। मध्य-

युग की समाजयोजना उनकी किसान-गाथाओं में भविष्य के लिए सुरक्षित मिलेगी। इसी प्रकार गॉल्जवर्दी के Forsyte Saga में इंगलैंड के मध्य वर्ग का चित्र इतिहासवेत्ताओं को आकर्षित करता रहेगा।

युवक कलाकारों में विद्रोह की भावना भगवतीचरण वर्मा में बहुत प्रबल है। इस युग की रीति-नीति से उनका घोर मतभेद है। केवल विवेक के सहारे वे नये युग का निर्माण करने निकले हैं। उनके चित्र जनसाधारण के जीवन को नहीं छूते। नगरों में युवक-टोलियों के साथ उन्होंने सदा जीवन बिताया है। उसी जीवन से उनकी अनुभूति और प्रेरणा है। आशा है, अब विशाल कलकत्ता और बम्बई का क्रन्दन उनकी कृति में आ जायगा।

जैनेन्द्र कुछ खोजने में व्यस्त हैं, पता नहीं क्या ? आशा है इस बड़ी भारी खोज के बाद उन्हें कुछ मिलेगा। अपना कोई नया ही पन्थ निकालने की वे धुन में हैं। रूढ़ि-ग्रस्त समाज का ढाँचा आपको भी रुचिकर नहीं, इसी कारण क्रान्तिकारी कलाकारों में हम आपकी गणना करते हैं। 'परख', सुनीता'—'त्याग-पत्र'—में आपकी विचार-धारा की गति क्रान्तिकारी है। आशा है, आपका कोई निर्दिष्ट लक्ष्य भी है। बीहड़ में भटकते ही आप न रह जायँ, कभी-कभी यह आशंका मन में उठती है।

मधु के बहाने बच्चन ने भी परम्परा की रूढ़ियों का विरोध किया है—

'मैं हृदय में अग्नि लेकर,
एक युग से जल रहा हूँ।'

आपका मधु सांकेतिक है, यह स्पष्ट ही है :

"इस नीले अचल की छाया में
जग-ज्वाला का झुलसाया
आकर शीतल करता काया,

मधु-मरहम का मैं लेपन कर
अच्छा करती उर का छाला।
मैं मधुशाला की मधुवाला!
'मधु घट ले जब करती नर्त्तन,
मेरे नूपुर की छूम-छनन
में लय होता जग का क्रन्दन।'
झूमा करता मानव-जीवन
का क्षण-क्षण बन कर मतवाला।
मैं मधुशाला की मधुवाला!'

नाटककारों में श्री भुवनेश्वरप्रसाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है, यद्यपि शॉ के ऋण-भार से आपने अपने को अधिक दबा लिया है। आप के 'कारवाँ' का दृश्य कुछ विचित्र कौतूहल और आकर्षण लिये है। मरुभूमि की-सी प्यास लिये इस युग की अतृप्त अकांक्षाओं का यह 'कारवाँ' घंटियाँ बजाता अजीब उच्छृङ्खलता से हमारी आँखों के सामने से निकलता है। स्टेज के संकेतों में दिये—और अलग भी—आपके चित्र विशेष सफल हैं—

'कानपुर के पार्श्व-भाग में लज्जा से मुँह छिपाये कुलियों के निवास-स्थान।'

'एक बीस-बाईस वर्ष की युवती, मलिन वस्त्रों में इस प्रकार दीखती है, जैसे आँसुओं की नीहारिका मे नेत्र।'

'पीछे घर का नौकर है जो भाग्य के समान काँप रहा है।'

इस साहित्य में मध्य-वर्ग की विलीन होती हुई संस्कृति की स्पष्ट छाया है। जीवन के बहुत से सपने, आशा, अभिलाषाएँ, स्मृतियाँ।

२

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास भारतेन्दु के साथ शुरू होता है। भारतेन्दु की रचना में हम मध्य युग के झुटपुटे आलोक से निकल कर वर्तमान के प्रकाश में आते हैं। इस युग में हिन्दी ने अपना

कलेवर युगधर्म के अनुकूल बदला। हिन्दी गद्य का निर्माण यहीं से शुरू होता है और मध्य-युग की प्रवृत्तियों से मुड़कर हिन्दी काव्य ने भी अपना रुख वर्तमान की ओर पलटा।

अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत भारतीय समाज और संस्कृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। नये आविष्कार और एक नई समाज-व्यवस्था, ब्रिटिश सत्ता के चिह्न हमारे बीच आये। अंग्रेजी और फिर भारतीय पूँजीवाद की मदद से सामन्त प्रथा को गहरा धक्का लगा।

किन्तु सन् '५७ से ही भारत में ब्रिटिश सत्ता के प्रति असंतोष रहा है। मुग़ल शासन और ब्रिटिश शासन में यह अन्तर था कि मुगल भारत में बस गये थे। मुगल संस्कृति और किसी भी देश की संस्कृति से विलग भारतीय संस्कृति थी। किन्तु अंग्रेज भारत के लिए सदैव विदेशी रहे। इनकी आँख हमेशा इंगलैण्ड पर लगी रहती है।

साहित्य जीवन का दर्पण है और जीवन की सभी भावनाओं का यहाँ प्रतिबिम्ब मिलता है। भारतेन्दु की कृति मे अंग्रेजी शासन के प्रति उत्साह है, क्योंकि भारतीय समाज को नये शासक वर्ग ने एक बुद्धिवादी संस्कृति के संपर्क में लाकर नया जन्म दिया। साथ ही राजनैतिक दासत्व के प्रति यहाँ विरोध-भाव भी है। भारतेन्दु का नाटक 'भारत-दुर्दशा' देश की जागृति का प्रथम चिह्न है।

'रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत-भाई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रङ्ग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल निज गहि लीनो॥
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

× × ×

'अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग बिस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईश देत हा हा री।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥'

भारतेन्दु के अन्य समकालीन कवियों में भी इस जागृति के लक्षण प्रकट हुए हैं, श्री बदरीनारायण चौधरी, श्री प्रतापनारायण मिश्र, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' आदि। वंग-भंग के कारण पूरे देश में बिजली-सी दौड़ गई। इसी समय वंकिम बाबू ने अपने क्रान्तिकारी उपन्यास लिखे और 'वन्देमातरम्' गीत की रचना की। हिन्दी के कवियों ने हास्य की शरण ली। श्री बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' मे अंग्रेजी सरकार बदलने पर लिखा :

'टोरी जायें, लिबरल आयें। भारतवासी धूम मचायें॥
जैसे लिबरल वैसे टोरी। जो परनाला वो ही मोरी॥ होली...'

हिन्दी के प्रगतिशील सहित्य मे अगला क़दम 'भारत-भारती' था। इस पुस्तक का हिन्दी संसार में खूब प्रचार हुआ और पहले सत्याग्रह आन्दोलन के समय तो यह तरुण देश भक्तो की बाइबिल बन गई। श्री मैथिलीशरण गुप्त की कविता पहले से अब बहुत निखर चुकी है, किन्तु 'भारत-भारती' की लोकप्रियता उनकी अन्य किसी पुस्तक को अब तक नहीं मिली। गुप्त जी ने देशभक्ति की कविता परिमाण में काफ़ी लिखी। 'मातृभूमि' का आपने कितना सुन्दर चित्र खींचा है :

'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है।
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है॥
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं।
बन्दीजन खगवृन्द, शेषफन सिंहासन है॥

करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥

× × ×

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम है।
शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है॥
षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है।
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है॥
शुचि सुधा सींचता रात में तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है।
हे मातृभूमि! दिन में तरणि करता तम का नाश है॥
सुरभित, सुन्दर, सुखद, सुमन तुझ पर खिलते हैं।
भाँति-भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं॥
औषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली।
खानें शोभित कहीं धातु वर रत्नोवाली॥
जो आवश्यक होते हमें मिलते सभी पदार्थ हैं।
हे मातृभूमि! वसुधा, धरा तेरा' नाम यथार्थ है॥
'दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी॥
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी।
पुष्पों से तरु-राजि कर रही पूजा तेरी॥
मृदु मलय वायु मानो तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही।
हे मातृभूमि! किसका न तू सात्त्विक भाव बढ़ा रही॥'

गांधीजी के सत्याग्रह-आन्दोलन का देश के जीवन पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। अनेक लेखक और कवि इस तूफान में बह गये। इनमें अग्रगण्य प्रेमचन्द, 'एक भारतीय आत्मा', 'नवीन' और श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान हैं।

स्व० प्रेमचन्द ने दृढ़ हाथों से साहित्य का रुख जीवन की ओर पलटा। भारत की ग्रामीण और नागरिक समाज-योजना की आपने गम्भीर और मार्मिक विवेचना की। समाज के शोषक और शोषित

वर्गों की पहेली को आपने समझा और इन समस्याओं का अपनी कहानियों में विशद चित्रण किया। स्व० प्रेमचन्द अपने जीवन के लगभग अन्त तक गांधीवादी रहे और अपने साहित्य में इस आशा को स्थान देते रहे कि हृदय-परिवर्त्तन से समाज सुधर जायगा। यह आशा का अङ्कुर पहले 'प्रेमाश्रम' मे लगा था, किन्तु 'गो-दान' में नष्ट हो चुका है। 'कफन' आदि कहानी भी हमें एक दूसरे ही दृष्टिकोण का आभास देती हैं। 'समर-यात्रा' का सन्देश यह महारथी हमें निरन्तर सुनाता रहा। आपकी रचना को हम किसानों का अमर गीत कह सकते हैं।

राष्ट्रीय जाग्रति के साथ अनेक गायक भी पैदा हुए, इनमे सबसे अधिक प्रभावशाली 'नवीन' हैं। आप कहते हैं :

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये - एक हिलोर उधर से आये।
प्राणों के लाले पड़ जायें त्राहि-त्राहि रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये।
बरसे आग, जलद जल जायें, भस्मसात् भूधर हो जायें।
पाप-पुण्य, सदसद्भावों की, धूल उड़ उठे दायें बायें।
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें।
कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये॥"

आपने 'गान्धी गुरुदेव', 'मानव', 'पराजय-गान' आदि अनेक शक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी हैं। हमें हर्ष है कि अब वर्षों बाद 'कुंकुम' नाम के संग्रह में आपकी कविता सर्वसाधारण को प्राप्य हो गई है। गान्धीजी को आपने 'ओ क्षुरस्य-धारा-पथ-गामी !' कहकर सम्बोधित किया है। 'पराजय-गान' पहले सत्याग्रह-आन्दोलन की पराजय के बाद लिखा गया था :

'आज खड्ग की धार कुण्ठित, है खाली तूणीर हुआ।
विजय-पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ—'

'मानव' लम्बी कविता है। इसमें आपने मनुष्य के विकास की रेखाएँ खींची हैं, आदिम युग से आज तक।

'नवीन' की श्रेणी में और भी अनेक समकालीन कवि आते हैं, 'एक भारतीय आत्मा', 'त्रिशूल-सनेही', श्री रामनरेश त्रिपाठी, सुश्री सुभद्राकुमारी चौहान। इन सभी के काव्य मे भारत की राष्ट्रीय भावनाओं का उत्तेजित स्वर है।

गान्धी-युग में देश अपनी पराधीनता और शृङ्खलाओं की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। वह दुःसह भार न सहन कर सकने के कारण इस युग के तरुण कवियों ने कल्पना के जग मे भागकर शरण ली। सर्वथा अन्तर्मुखी होकर कवियों की प्रेरणा सोने-चाँदी के ताने-बानों से शब्द-जाल बुनने लगी। 'प्रसाद' अतीत के सपने देखने लगे। किन्तु भागकर भी ये कवि जीवन से विलग न हो पाये और एक मधुर पीड़ा-भार से उनका काव्य आक्रान्त हो उठा :

'मृग मरीचिका के चिर पथ पर
सुख आता प्यासों के पग धर,
रुद्ध हृदय के पट लेता कर—'

छायावादी कवियों की रचना में देश का क्रन्दन निरन्तर प्रतिध्वनित हुआ है। पन्त का 'परिवर्तन' इसका उदाहरण है। इतिहास के स्वर्ण-पट को निरन्तर देखते हुए पन्त कहते हैं :

'कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?'

अतीत से वर्तमान की तुलना करके इस भीषण 'परिवर्तन' पर कवि का विकल हृदय हाहाकार कर उठा है :

'अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा ही ताण्डव-नर्त्तन, विश्व का करुण-विवर्त्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन, निखिल उत्थान, पतन !'

'युगान्त' की अन्तिम कविता 'बापू के प्रति' पन्त की प्रतिभा के एक युग के अन्त होने की सूचना थी। यद्यपि मनन और चिन्तन

अब भी पन्त के प्रधान काव्य-गुण हैं, वह हमारी सामाजिक विडम्बना को देखते हैं, और कल्पना के गुम्बद से बाहर निकल आते हैं। 'बापू...' से 'युग-वाणी' सहज और स्वाभाविक विकास-क्रम है। नरेन्द्र ने 'युग-वाणी' के पन्त को 'वर्गहीन बुद्धिवादी' कहा है। बहुत हद तक यह कविताएँ प्रयोगात्मक हैं। अतीत से मुड़कर वह वर्तमान और भविष्य की ओर उन्मुख हुए हैं। 'ग्राम्या' में पन्त ने अपना सर्वश्रेष्ठ काव्य रचा।

छायावादी कवियों ने हिन्दी काव्य के टेकनिक में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन किया और कविता को नया जीवन प्रदान किया। इस कार्य मे 'निराला' सबसे आगे थे। आपने नये स्वरों और ताल मे कविता का संगीत रचा। साथ ही आप देश के जीवन से विरक्त न थे :

'जागो फिर एक बार !
उगे अरुणाचल में रवि,
आई भारती-रति कवि कण्ठ में,
पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति-पट
गया दिन, आई रात,
मुँदी रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के
बीते दिन पक्ष-मास,
वर्ष कितने ही हजार।
जागो फिर एक बार !'

विचित्र स्वर-लहरी मे सजा आप 'भारत की विधवा' के प्रति अपने विचार प्रकट करते हैं।

'वह इष्ट-देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।'

२

इन बन्धन-मुक्त छन्दों में आपने बन्दी समाज को स्वतन्त्रता और एक नये युग का सन्देश सुनाया है :

'ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय-कपाट,
खोल दे कर-कर कठिन प्रहार—'

हिन्दी के आधुनिक प्रगतिशील कवियों में 'दिनकर' का स्थान अच्छा है। यौवन के स्वप्न और कल्पना-राज्य आपने देश के ऊपर न्यौछावर कर दिये हैं। आपकी कविता कहती है :

'आज न उड़ के नील-कुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगी
आज चमेली में न चन्द्र-किरणों से चित्र बनाऊँगी—'

आप कल्पना के व्योम में उड़ने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु :

'रह-रह पंखहीन खग-सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में;
झटिका एक बहा ले जाती स्वप्न-राज्य आँसू के जल में।'

अब 'चाँदी का शंख' उठाकर आप उसमें 'भैरव-हुंकार' फूँक रहे हैं और इस युग को जय का सन्देश सुनाते हैं :

'जागरूक की जय निश्चित है, हार चुके सोनेवाले।

× × ×

मञ्जिल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोनेवाले।'

'नई दिल्ली', 'विपथगा', 'हिमालय', 'भविष्य की आहट' आदि अनेक अमर गीतों की आपने रचना की है। क्रान्ति के अनेक शक्तिशाली चित्र आपने खींचे हैं :

'अँगड़ाई में भूचाल, साँस में लङ्का के उनचास पवन।'

× × ×

'मेरे मस्तक के छत्र मुकुट वसु-काल सर्पिणी के शत फन
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चन्दन
आँजा करती हूँ चिता-धूम का दृग में अन्ध तिमिर-अञ्जन
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन—'

× × ×

'पायल की पहली झमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है।'

'दिनकर' के काव्य का सबसे उपयुक्त विवेचन उन्हीं के शब्दों में हो सकता है :

'समय ढूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये,
आज खोजते उन्हें बुलाते वर्तमान के पल आये।'

'वर्तमान के पल' आज हिन्दी के सभी कवियों को बुला रहे हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' इसी प्रवृत्ति का इशारा है। नरेन्द्र ने 'प्रभात-फेरी' से 'ज्येष्ट के मध्याह्न' और 'लाल निशान' तक इस पथ को अपनाया है। 'प्रवासी के गीत' हमारी निराशा के गहरे-पन का कुछ आभास देते हैं। जिस छायावाद से पन्त और 'निराला' ने हिन्दी के नवीन युग का श्रीगणेश किया था वह अब अस्तप्राय है। हिन्दी के तरुण कवि 'अञ्चल', 'सुमन' और रांगेय राघव की नई कविताएँ इस विचार की पुष्टि करती हैं।

इस परिवर्तन का बहुत कुछ श्रेय प्रगतिशील-लेखक-संघ को है। सन् १९३५ में नवम्बर के कोहरे-भरे दिनों में कुछ भारतीय विद्यार्थियों के एक छोटे-से दल ने नैनकिङ्ग रेस्टोराँ में भारतीय प्रगतिशील-लेखक-संघ की स्थापना की। इनमें डा० मुल्कराज आनन्द, सज्जाद जहीर आदि प्रमुख थे। पहली भारतीय कॉन्फ्रेंस लखनऊ में एप्रिल १९३६ में हुई। इसके सभापति स्वर्गीय प्रेमचन्द थे। दूसरी कॉन्फ्रेंस कलकत्ता में दिसम्बर १९३८ में रवि बाबू की अध्यक्षता में हुई। इन कुछ ही वर्षों में हमारे साहित्य और कला-सम्बन्धी विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो चुका है।

लड़ाई और तानाशाही संस्कृति के सबसे बड़े शत्रु हैं। आत्म-रक्षा के लिए फ्रांस आदि देशों में लेखकों ने एक लोहे की दीवार-सी बना ली थी। भारत में विदेशी शासन, सामन्तशाही आदि शत्रु हमारी संस्कृति को नहीं पनपने देते। ऐसी अवस्था में लेखकों का यह कर्तव्य

हो जाता है कि सांस्कृतिक विकास के अनुकूल वातावरण की वह सृष्टि करें।

इस उद्देश्य से भारतीय लेखकों का एक छोटा-सा दल आगे बढ़ा। स्वर्गीय प्रेमचन्द, कवि श्री पन्त, नरेन्द्र, बेनीपुरी, शिवदानसिंह चौहान, 'अज्ञेय' आदि इस आन्दोलन से प्रभावित हुए। इनकी रचना में समाज और संस्कृति के प्रति एक नये दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। इस आन्दोलन से हमारे साहित्य में नया जीवन और बल आ गया है।

प्रगतिशील दल के एक मुख्य लेखक मुल्कराज आनन्द हैं। आपने अँग्रेजी में अनेक प्रभावशाली उपन्यास लिखे हैं। कुछ आपकी कहानियाँ हिन्दी में भी निकल चुकी हैं। आप निर्मम यथार्थवादी हैं। इसी श्रेणी में सज्जाद ज़हीर, अहमद अली आदि आते हैं। ज़हीर का एकांकी 'बीमार' और अहमद अली की कहानी 'हमारी गली' ख्याति पा चुके हैं। वास्तव में यह दोनों उर्दू के लेखक हैं। बेनीपुरी में हम इस आन्दोलन का प्रभाव अच्छी तरह तौल सकते हैं। बेनीपुरी हिन्दी के पुराने लेखक हैं, किन्तु अब आपकी रचना में नया उत्साह और बल है। 'देहाती दुनिया' का 'लाल तारा' से कुछ मुकाबिला नहीं। 'लाल तारा' हाल में निकलनेवाली पुस्तकों में अपना अलग स्थान रखती है। एक नये युग का सन्देश लेकर यह 'लाल तारा' हमारे आकाश में उदय हुआ है।

कविता

१

हिन्दी-साहित्य का 'सरस्वती' के प्रति विशेष आभार है, जिसने रूढ़िग्रस्त काव्य-परम्परा को नया पथ सुझाया। 'सरस्वती' के शासन-काल तक हिन्दी की कविता ब्रजभाषा में लिखी जाती थी, किन्तु गद्य

खड़ी बोली में। श्रद्धेय द्विवेदीजी की नीति के कारण हिन्दी कविता की भाषा भी जीवन के अधिक निकट आ गई।

इस दृढ़ नींव पर आधुनिक हिन्दी कविता का भव्य प्रासाद खड़ा हुआ। श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में प्रौढ़ता देर में आई। 'साकेत', 'यशोधरा' और 'पंचवटी' के सामने 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' नहीं टिकते। गुप्तजी का विशेष गुण आपकी भगवद्भक्ति और अनवरत अध्यवसाय है। कहते हैं कि कवि बन नहीं सकते, जन्मते हैं। यह कथन आप पर नहीं लागू होता। अपने सतत परिश्रम से ही आप कवि बने हैं। हिन्दी कविता के आज आप सिरमौर हैं और मर्म छूनेवाली कविता आपकी वाणी से फूट रही है :

> 'सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
> स्वयं सुसज्जित करके रण में ;
> प्रियतम को प्राणों के पण में,
> हमीं भेज देती हैं रण में ;
> क्षात्र धर्म के नाते। ...'

आधुनिक हिन्दी कविता के वास्तविक युग-प्रवर्तक पन्त थे, यद्यपि 'प्रसाद' और 'निराला' समय में इनसे पहले आये। 'प्रसाद' और 'निराला' स्वयं बड़े कवि थे ; किन्तु उनकी कविता का युवक-समाज पर वह प्रभाव नहीं, जो पन्त का। पन्त की 'वीणा' ने मानो युगों की सोई कविता-राजकुमारी को अनायास ही जगा दिया।

इस नई हिन्दी कविता का 'छायावाद', रहस्यवाद', आदि नामकरण-संस्कार लेकर घोर वितण्डावाद भी चला जो अब ठंडा पड़ रहा है। अंग्रेजी और बँगला साहित्य की इस काव्य पर गहरी छाप थी। इस नये वेश-विन्यास में कविता-नागरी का रूप पुराने पारखी न समझ पाये।

नये ढंग के टूटे-से छंदों में नये ही विषयों पर यह कविगण अपने राग अलाप रहे थे। जो दूर देश से किसी अनजान शक्ति का सन्देश

इन्हें मिला था, उसे किसी ने समझा, किसी ने नहीं। किन्तु ये अपना स्वर साधकर कहते ही रहे :

'हमें जाना है जग के पार।—
जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले,
सदा ही बहती नव-रस-धार—
वहीं जाना, इस जग के पार।'

कवि के चिर-अन्ध नयन खुलते ही उसने एक सुन्दर स्वर्णिम जग अपने चारों ओर पाया :

'कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?
अये अभिनव, अभिराम!'

यह विस्मय-भाव चाहे जिस नाम से पुकार लिया जाय, अनुभूति इस कविता में अवश्य थी।

नवयुग के सूत्रधार 'प्रसाद' आधुनिक हिन्दी कविता को आगे बढ़ाकर दिवंगत हो चुके हैं। 'आँसू', 'झरना', 'लहर' और 'कामायिनी' लम्बी यात्रा के चिह्न चिरकाल तक आपके स्मारक रहेंगे। आधुनिक हिन्दी कविता का पीड़ा के प्रति मोह 'प्रसाद' की रचना से ही शुरू हो जाता है। 'आँसू' के मुख-पृष्ठ पर ही आपका यह छन्द था :

'जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।'

'प्रसाद' उच्च कोटि के शिल्पकार हैं। आप किसी मत-मतान्तर में नहीं फँसे। 'कला कला के लिए' आपका ध्येय था। सतत सुन्दरता की खोज में आप लगे रहे; जहाँ वह मिली, वहीं से उसे बटोर लिया।

'झरना' में 'प्रसाद' की कविता का प्रारंभिक रूप है। आपके

काव्य के यहाँ परमाणु हैं, किन्तु मानो अभी बिखरे हुए हैं। आगे चलकर इन्होंने 'प्रसाद' के अनन्य जगत् की सृष्टि की :

'विश्व के नीरव निर्जन में।
जब करता हूँ बेकल, चचल,
मानस को कुछ शान्त,
होती है कुछ ऐसी हलचल,
हो जाता है भ्रान्त;
भटकता है भ्रम के वन में,
विश्व के कुसुमित कानन में।'

'आँसू' 'प्रसाद' की कला का उत्कृष्ट नमूना है। यह कवि के हृदय का मर्मस्पर्शी क्रन्दन है—

'आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी,
टकराती बिलखाती-सी
पगली-सी देती फेरी!'

'आँसू में अनेक सुन्दर चित्र हैं :

'शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृगजल का,
यह व्यर्थ साँस चल चलकर
करता है काम अनिल का।'

× × ×

'जल उठा स्नेह दिपक-सा
नवनीत हृदय था मेरा;
अब शेष धूम-रेखा से
चित्रित कर रहा अँधेरा।'

'आँसू' मे कवि के हृदय की प्रणय-भावना भी व्यक्त हुई है। इन पंक्तियों में हिन्दी के आधुनिक रहस्यवाद की कुछ झलक है। कहीं-कहीं 'प्रसाद' की विलास-प्रियता भी दीख पड़ती है :

'शशि-मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में
कौतूहल-से तुम आये।
× × ×
काली आँखों में कैसी
यौवन के मद की लाली,
मानिक-मदिरा से भर दी
किसने नीलम की प्याली।
× × ×
तुम सत्य रहे चिर सुन्दर,
मेरे इस मिथ्या जग के।
थे कभी न क्या तुम साथी
कल्याण-कल्पित मम-मग के।'

'आँसू' के बाद 'प्रसाद' की कविता द्रुत-गति से आगे बढ़ी और आपने अनेक अमर पदों की रचना की।

'बीती विभावरी, जाग री।
अम्बर पनघट में डुबो रही, तारा-घट ऊषा नागरी।'

अथवा—

'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।'

अन्त में अमर-काव्य 'कामायनी' की रचना कर आप इस लोक से चल दिये। 'कामायनी' हिन्दी-काव्य का एक उत्तुङ्ग गिरि-शृंग है और साहित्य को 'प्रसाद' की सबसे बड़ी देन। 'कामायनी' में 'प्रसाद' की कहानी, नाट्य और काव्यकला का अपूर्व सम्मिलन हुआ है।

'निराला'जी हिन्दी कवियों में शक्ति के उपासक हैं। आपके काव्य में सहज माधुरी की अवहेलना-सी है, यद्यपि उमंग आने पर

आप मीठी तान भी छेड़ सकते हैं। 'प्रसाद'जी को आपकी 'मतवाला' के मुख-पृष्ठवाली पंक्तियाँ बहुत पसन्द थीं :

'अमिय-गरल शशि सीकर-रविकर राग-विराग भरा प्याला।
पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है यह 'मतवाला'।'

आपकी कविता का संगीत आपके मुख से सुनने पर पूरी तरह प्रकट होता है। स्वर साधकर गम्भीर कण्ठ से आप जब अपनी कविता सुनाते हैं, तो प्रकृति की अपेक्षा पुरुष का ही मान अधिक होता है।

हिन्दी कविता में आपने नये मुक्तक छन्दों का प्रयोग किया और एक भग्न-से किन्तु आकर्षक संगीत की सृष्टि की। आपके काव्य मे कुछ नई ही गति और प्रवाह है :

'नव गति, नव लय, ताल-छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मंद्र रव,
नव नभ के नव विहग-वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे।'

'निराला' हिन्दी के क्रान्तिकारी कलाकार हैं। आपने रूढ़िवाद को पग-पग पर कुचला है। आपका शब्द-विन्यास भी कुछ नया ही है :

'छद की याद, दृष्टि अनुराग,
भर गये रे भावों के भाग।
तान, सरिता वह सरस अछोर,
बह रही ज्ञानोदधि की ओर,
कटी हृदि के प्राण की डोर,
देखता हूँ अहरह मैं जाग।'

आपकी कविता में प्रकृति का और जीवन का सौंदर्य प्रतिबिम्बित है, किन्तु जीवन का कठोर सत्य अंकित करना भी आप नहीं भूलते :

'गया रवि अस्ताचल,
सन्ध्या के दृग छल-छल।'

वीणा-वादिनी से आपकी प्रार्थना है :

'जग को ज्योतिर्मय कर दो !
प्रिय कोमल-पद-गामिनि ! मन्द उतर
जीवन-मृत तरु-तृण गुल्मों की पृथ्वी पर
हँस-हँस निज पथ आलोकित कर,
नूतन जीवन भर दो !'

पन्त की कविता का हिन्दी की युवा-मण्डली पर भारी प्रभाव पड़ा। रूढ़ियों में फँसी हिन्दी कविता आपका अनुसरण कर नई दिशाओं की ओर बढ़ी और कविता के कंकाल में नवजीवन संचार हुआ।

'वीणा', 'पल्लव', 'गुञ्जन,' 'युगान्त', 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' आपकी यात्रा के पद-चिह्न हैं। हिन्दी कविता एक परिपाटी के दलदल में फँस चुकी थी। आपने मानो दिव्य नेत्रों से जगत् में एक अभिनव अनहोना सौंदर्य देखा और विस्मय-पुलक आपके कण्ठ में गीत उमड़ पड़ा। 'सरस्वती' में लगातार कई मास जो आपकी कविताएँ निकली थीं, उनमें विद्युत् का आकर्षण और शक्ति थी। 'साँकरी गली में माय काँकरी गड़तु है' सुन्दर चीज़ थी; किन्तु इसे हम कब तक दुहराते? 'सुन सखि, फिर वह मनमोहिनी माधव-मुरली बजती है' यह वस्तु भी सुन्दर थी। किन्तु हम जो दीर्घकाल से साहित्य-प्रेरणा से जी रहे थे, अब फिर जीवन की ओर मुड़े और हमने जीवन का सौंदर्य देखा :

'अरे, ये पल्लव बाल !
सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार ;
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल
नहीं छूटो तरु-डाल ;
विश्व पर विस्मित-चितवन डाल,
हिलाते अधर-प्रवाल !'

अथवा

'बाँसों का झुरमुट—
सन्ध्या का झुटपुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी·वी·टी—टुट्-टुट् ।

'युग-वाणी' से पहले पन्त की काव्य-प्रेरणा मे माधुरी थी। आपने जीवन में सुख और दुःख का अतिरेक देखा था और जग का विधान आपको ग्राह्य न था, फिर भी वसन्त और उषा की श्री देखकर आप अपना जी बहला लेते थे, और आपके शान्त मानस में कोई भूकम्प की लहरें न उठती थीं :

'मैं नहीं चाहता चिर सुख,
चाहता नहीं अविरत दुख ;
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।'

जीवन से आप विमुख हैं, यह कहना अनुचित होगा। 'परिवर्तन' और 'बापू के प्रति' कविताओं में इस देश और युग की वाणी मुखरित हो उठी है। 'परिवर्तन' देश का क्रन्दननाद है :

'रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायङ्काल ;
शून्य-निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिन्धु विशाल ;
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कङ्काल !!'

'रूपाभ' के जन्म-काल से आपकी कविता ने फिर रुख पलटा है। समाजवाद से प्रभावित होकर आपकी कविता मे नया रूप-रंग आया है। यह कविता हमारे विवेक को जगाती है। 'मार्क्स के प्रति' आप कहते हैं :

'दन्तकथा, वीरों की गाथा, सत्य, नहीं इतिहास,
सम्राटों की विजय-लालसा, ललना-भृकुटि-विलास ;
दैव नियति का निर्भय क्रीडा-चक्र न वह उच्छृङ्खल,
धर्मान्धता, नीति, संस्कृति का ही केवल समरस्थल।
साक्षी है इतिहास,—किया तुमने निर्भय उद्घोषित
प्रकृति विजित कर मानव ने की विश्व-सभ्यता स्थापित।'

पन्तजी का एक सफल रूप हम प्रकृति के कवि और गीतकार में भी देखते हैं। वसन्त और वर्षा, उषा और सन्ध्या, धूप और छाया—आपके काव्य में अपूर्व माधुरी लेकर प्रकट हुए हैं। 'युग वाणी' और 'ग्राम्या' में भी अनोखा रूप लेकर प्रकृति आई है :

'सर् सर् मर् मर्
रेशम के से स्वर भर,
घने नीम दल
लम्बे, पतले, चञ्चल
श्वसन स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल-हिल उठते प्रति पल।
वृक्ष शिखर से भू पर
शत-शत-मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो निर्झर—'

इस अभिनव रूप-जगत् के विश्वकर्मा के प्रति पाठक बड़ा कृतज्ञ है।

श्रीमती महादेवी वर्मा ने गीति-काव्य को अपनाया है। आपकी कविता में मिठास कूट-कूटकर भरी है। आज हिन्दी-कविता के क्षेत्र में अन्य कोई कवि ऐसा नहीं, जिसकी रचना में इतनी मधुरिमा भरी हो। आपके काव्य की शिल्प-कला से तुलना हो सकती है, इतनी पच्चीकारी आपकी कृति में है। आपके अनेक शब्द-चित्र स्मरणीय हैं :

'शून्य नभ में तम का चुम्बन,
जला देता असंख्य उडुगन
बुझा क्यों उनको जाती मूक,
भोर हो उजियाले की फूँक!'

अथवा

'मृगमरीचिका के चिर पग धर,
सुख आता प्यासों के पग धर—'

'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य-गीत' आपके काव्यप्रासाद के स्तंभ हैं। इस प्रासाद में प्रतीक्षा का दीप जला आपने अपना गीत उठाया है। इस गीत के स्वर निरन्तर अधिक सधे और मीठे होते जा रहे हैं:

'तड़ित निशीथ में ले आये
गायक तुम अपनी अमर वीन!
प्राणों में भरने स्वर नवीन!'

इस गीत की तान निरन्तर ही करुण और व्यथा-भरी है। कवियित्री चिरकाल से ही पीड़ा की ओर खिंची है। महादेवीजी ने स्वयं अपने दुःखवाद का कारण 'रश्मि' में समझने और समझाने का प्रयत्न किया है:

'दुख के पद छू बहते झर झर
कण कण से आँसू के निर्झर,
हो उठता जीवन मृदु उर्वर—'

आपके दुःखवाद की चरम सीमा मोम की भाँति गल-गलकर प्रियतम का पथ आलोकित करने में होती है:

मधुर मधुर मेरे दीपक जल!
युग युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर!'

यह विचार अवश्य मन में आता है कि यह अतिशय मिठास और

'पीड़ा आधुनिक हिन्दी काव्य के क्षय-चिह्न न हों। आप कहती हैं :

'जग करुण करुण, मैं मधुर मधुर !
दोनों मिल कर देते रजकण,
चिर करुणमधुर सुन्दर सुन्दर !
जग पतझर का नीरव रसाल,
पहने हिमजल की अश्रुमाल ;
मैं पिक बन गाती डाल-डाल,
सुन फूट फूट उठते पल-पल
सुख-दुख मञ्जरियों के अङ्कुर !'

हिन्दी काव्य में आज एक बहुत जाग्रत शक्ति श्री भगवतीचरण वर्मा हैं। वर्षों पहले 'नूरजहाँ की कब्र पर' लिखी कविता से :'भैंसा-गाड़ी' तक आपने अनवरत काव्य-साधना की है। इसका प्रमाण आप के 'मधु-कण' और 'प्रेम-संगीत' हैं :

आपका व्यक्तित्व आपकी ही पक्तियाँ उचित रूप से वर्णन करती हैं।

'हम दीवानों की क्या हस्ती,
हम आज यहाँ कल वहाँ चले।
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले—'

आपकी कविता का मुख्य नोट अतृप्त पिपासा और जीवन के प्रति घोर असन्तोष है। यह प्रतिध्वनि निरन्तर आपकी कविता से उठती है :

'अब अन्तर में आह्लाद नहीं, अब अन्तर में अवसाद नहीं,
अब अन्तर में उन्माद नहीं, मैं अन्तर को कर चुका नष्ट !'

आपके 'प्रेम-संगीत' में भी निराशा का ही प्राधान्य है :

'जीवन सरिता की लहर-लहर
मिटने को बनती यहाँ प्रिये।
संयोग क्षणिक !—फिर क्या जाने
हम कहाँ और तुम कहाँ प्रिये !'

आपका यह असंतोष स्वाभाविकतया क्रान्तिकारी विचारधारा में परिणत हुआ। 'रूपाभ' में प्रकाशित 'भैंसागाड़ी' और 'कविजी' इसकी सूचना हैं :

'चरमर-चरमर चूँ-चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !'

बड़े दरिद्र ग्राम से यह 'भैंसागाड़ी' आ रही है :

'उस ओर क्षितिज के कुछ आगे,
कुछ पाँच कोस की दूरी पर,
भू की छाती पर फोड़ों-से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खँडहर उसको
पर वे कहते हैं उसे ग्राम—'

आगे नगर का वर्णन है :

'पीछे है पशुता का खँडहर,
दानवता का सामने नगर,
मानव का कृश कंकाल लिये
चरमर-चरमर-चूँ-चरर-मरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी !'

हिन्दी कवियों में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और 'एक भारतीय आत्मा' गले तक राजनीति में डूबे हैं। 'भारतीय आत्मा' ने इधर बहुत कम लिखा है। यह बात विचारणीय है कि इस राजनैतिक तल्लीनता से कवि की साहित्य-सेवा में बाधा पड़ी है, अथवा उसकी वाणी में कुछ नवीन ओज और शक्ति है! 'नवीन' के काव्य में क्रान्ति की सच्ची प्रेरणा है। स्वयं आपके मुख से 'पराजय-गान' जैसी कविता सुनकर रोमांच हो आता है। हमें हर्ष है कि आपके काव्य का एक संग्रह 'कुकुम' लम्बी प्रतीक्षा के बाद प्रकाशित हो-गया है।

'कुलबुल' से इस 'नवीन' संन्यासी का अलख गान कुछ दिनों के

लिए प्रणय-संगीत में परिणत हुआ, किन्तु 'मानव', 'गुरुदेव गांधी' और 'झूठे पत्ते' के साथ फिर वह प्रलयकारी भैरवनाद बना है। आपकी भाषा संस्कृत, उर्दू मिश्रित कुछ ऊबड़-खाबड़-सी शक्ति और ओज-पूर्ण होती है। प्रताप' में प्रकाशित 'विजयादशमी' प्राचीन संस्कृति के प्रति सुन्दर और मधुर श्रद्धाञ्जलि थी।

'बच्चन' उन्नति के पथ पर तीव्रगामी कवि हैं। लोकमत ने आपका नाम 'हालावाद' के साथ जोड़ रखा है, किन्तु आप 'हालावाद' को भी पीछे छोड़ चुके हैं। 'मधुशाला', 'मधुबाला', 'मधुकलश', 'निशा-निमंत्रण', 'एकान्त संगीत', 'सतरंगिनी' आदि उन्नतिपथ के पग हैं। मधु के अतिरिक्त आप 'पग ध्वनि' आदि अनेक कविता लिख चुके हैं जो हिन्दी में प्रसिद्धि पा चुकी हैं। 'पग-ध्वनि' और 'निशा-निमन्त्रण' के गीत 'बच्चन' बड़ी सुन्दरता से और मीठे स्वर से सुनाते हैं।

आपकी कविता में भी जीवन के प्रति घोर असंतोष और विद्रोह भाव है:

'मैं हृदय में अग्नि लेकर
एक युग से जल रहा हूँ—'

अथवा

'हो नियति इच्छा तुम्हारी
पूर्ण, मैं चलता चलूँगा,
पथ सभी मिल एक होंगे
तम-घिरे यम के नगर में।'

'निशा-निमन्त्रण में आपकी कविता दुःख से अधिक गहरी रँग गई है और आपकी कला बहुत मँज गई है।

संध्या सिंदूर लुटाती है।
रँगती स्वर्णिम रज से सुन्दर
निज नीड़-अधीर खगों के पर,
तरुओं की डाली-डाली में कंचन के पात लगाती है।

करती सरिता का जल पीला
जो था पल भर पहले नीला,
नावों के पालों को सोने की चादर-सा चमकाती है।
उपहार हमें भी मिलता है,
शृंगार हमें भी मिलता है,
आँसू की बूँद कपोलों पर शोणित की-सी बन जाती है।
सन्ध्या सिंदूर लुटाती है।'

आज हिन्दी मे अनेक कवि जाग्रत हैं और हिन्दी कविता का भण्डार भर रहा है। प्रो० रामकुमार वर्मा, गुरुभक्त सिंह, आरसीप्रसाद सिंह, सियारामशरण गुप्त, 'दिनकर', 'अज्ञेय', 'अंचल' आदि। तरुण कवियों मे एक प्रगतिशील कवि नरेन्द्र हैं। आपके काव्य का सहज संगीत तो आकर्षक है ही :

'पके जामुन के रँग का पाग
बाँधता लो आया आषाढ़!'

आपकी 'प्रभात-फेरी' ने हमें स्वतंत्रता का संदेश भी सुनाया है :

'आओ, हथकड़ियाँ तड़का दूँ,
जागो रे नतशिर बन्दी!'

आपकी 'प्रयाग', 'भावी पत्नी', 'चिता', 'बबूल', 'मरघट का पीपल' आदि कविताओं में शक्ति और प्रबल प्रवाह है और भविष्य के लिए बड़ी आशा :

'चढ़ लपटों के स्वर्ण गरुड़ पर
फैलेगी जागृति की ज्वाला!'

आज कल हिन्दी कविता में 'छायावाद', 'दुःखवाद', 'हालावाद' 'प्रगतिवाद' आदि अनेक नाम सुन पड़ते हैं। यह हमारी प्रगति का प्रमाण है और हमारी जागृति के चिह्न।

आधुनिक हिन्दी-काव्य ने जिस अज्ञात, रहस्यमय जग को अपने चारों ओर पाया है, उसका विस्मित वर्णन 'छायावाद' के नाम से पुकारा जा रहा है। इस काव्य में प्रकृति के सुनहले और रुपहले रूप

का भी बड़ा सुन्दर वर्णन है ; उषा का अरुण, गुलाबी पथ, अँधियाले का नीला, तारक-खचित परिधान, ऋतुओं का परिवर्त्तन, सागर-लहरी का मधुर संगीत और झंझा का ताण्डव नर्त्तन।

अधिकतर यह काव्य अन्तर्मुखी हो रहा है। कवि अपनी व्यक्तिगत आशा, अभिलाषा और निराशा में जगत् को रँगा पाता है। बाह्य जग केवल उसकी आत्मा की प्रतिध्वनि है। प्रकृति के उल्लास और पीड़ा में वह अपनी आत्म-कथा छिपी देखता है। गीति-काव्य अकसर ही अहंभाव से पूरित रहता है।

कुछ हद तक देश और काल की परिस्थिति आधुनिक हिन्दी-काव्य के दुःखवाद की सफाई है। यद्यपि हमारी समाज-योजना आज दुःखप्रद और निराशाजनक दीखती है, किन्तु कुछ कवियों ने दूर क्षितिज पर नव प्रभात का अरुण आलोक भी देखा है और उनके गीत में नवीन उल्लास है :

'है आज गया कोई मेरे
तन में, प्राणों में यौवन भर।'

आधुनिक हिन्दी-कविता जीवन के साथ बँध रही है। देश और समाज में जो क्रान्ति हो रही है, उसकी स्पष्ट छाया हमारे काव्य पर पड़ रही है। इसके साक्षी पन्त, 'निराला', भगवतीचरण वर्मा, 'नवीन', नरेन्द्र, 'दिनकर' आदि कवि हैं।

२

आज हिन्दी कविता दो धाराओं में बँट रही है, एक क्षीण, सूखती हुई ; दूसरी बलवती, तीव्रगामी। पहली धारा के प्रतिनिधि कवि रामकुमार वर्मा, महादेवीजी आदि हैं ; दूसरी के पन्त, 'निराला', नरेन्द्र आदि। हमारे समाज और साहित्य में भी यह श्रेणी-विभाजन स्पष्ट है ; एक दल पुराने संस्कारों से बँधकर चलने के प्रयत्न में असमर्थ, दूसरा बन्धन तोड़ एक नवीन संस्कृति की रचना में लीन।

समाज में दीर्घकाल से श्रेणी विभाजन चला आ रहा है और

संस्कृति एक लम्बे अर्से से शासक श्रेणी की सम्पत्ति रही है, किन्तु इतिहास के आरम्भ में जब पूँजी न थी, समाज मे श्रेणियाँ भी न थीं। आज समाज का श्रेणी-संघर्ष भयानक रूप धारण कर रहा है क्योंकि वर्ग-संस्कृति का अन्त समीप है। निकट भविष्य में ही समाज से वर्ग निकल जायँगे और एक नई संस्कृति की स्थापना होगी। संसार के एक छठे हिस्से में इस संस्कृति का निर्माण हो भी रहा है।

समाज की इन दो शक्तियों का संघर्ष साहित्य मे भी स्पष्ट हो रहा है। एक दल पुराने मूल्यों को प्राणपण के साथ कलेजे से चिपकाये है; उसने ऊँची दीवारों से अपने को घेर रक्खा है। वह कला की दुहाई देता है और जीवन की उपेक्षा करता है। शाश्वत सत्य की मृगतृष्णा में वह भटककर रह जाता है। किन्तु जिस समाज को वह शाश्वत समझता है, उसकी बुनियादें हिल चुकी हैं।

एक पल के लिए इन संस्कारी कवियों का दृष्टिकोण समझना चाहिए। वे कहते हैं कि कवि अपने स्वप्नों को मसिबद्ध करता है; उसे आज और कल से क्या मतलब? उसकी रचना युग-युग पर्यन्त पढ़ी जायगी। मकड़ी की तरह अपने ही अन्तर से वह सतत जाला बुनता रहता है; ईंट और गारे की उसे क्या आवश्यकता?

किन्तु ठीक से सोचने पर हम देखेंगे कि कला का जीवन-संघर्ष से अटूट सम्बन्ध है और समाज के विकास अथवा ह्रास के साथ कला का भी उत्थान और पतन है। कला के पीछे जो भाव-चेतना होती है उसका आधार जीवन की शक्तियाँ हैं। कवि एक चेतना के संसार में अपने नेत्र खोलता है; उसके व्यक्तित्व का इस भौतिक संसार से संघर्ष होता है; उसे लिखने की प्रेरणा मिलती है।

आज क्यों हिन्दी के संस्कारी कवियों का भाव-स्रोत सूख रहा है और इनकी सूखती गीत-धारा में इतनी पीड़ा और कटुता है? कल्पना के प्रासादों में कब तक रहकर इन्हें सान्त्वना मिल सकती थी?

जीवन में इनकी नम्र अभिलाषाएँ कुचली जा चुकी हैं; केवल इनका सर्वोद्धत अभिमान इनका साथी बचा है:

'क्षतशीश मगर नतशीश नहीं।'

किन्तु खँडहरों का मोह उनके पैर बाँधे हुए है :

'अब खँडहर भी टूट रहा है,
गायन से गुञ्जित दीवारें।
दिखलाती हैं दीर्घ दरारें,
जिनके करुण, कर्णकटु, कर्कश, भयकारी स्वर फूट रहा है।'

बच्चन जिस गति और वेग से 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' में बढ़े थे, उसमें शिथिलता आ चुकी है। एक हद तक ये कवि अपने में ही लीन हैं, बाहर के जग की प्रतिध्वनियाँ इनके कल्पना-भवन में दबी-दबी ही आती हैं, अतः उनके भाव-जगत् की तरलता सूख रही है। महादेवीजी ने अपने गीतों में नक्काशी हद दरजे तक पहुँचा दी, किन्तु बंगाल के अकाल ने आपकी प्रेरणा का द्वार फिर से खोला। बच्चन अन्दर ही अन्दर घुटकर विषपान कर रहे थे :

'विष का स्वाद बताना होगा।
ढाली थी मदिरा की प्याली,
चूसी थी अधरों की लाली,
कालकूट आनेवाला अब, देख नहीं घबराना होगा।'

अथवा—

'कोई विरला विष खाता है।'

इन कवियों को व्यक्तिगत जीवन की विषमताओं ने लिखने की प्रेरणा दी ; उस पर जितना भव्य कला-भवन बन सकता था, वे बना चुके। उनके आगे बढ़ने का मार्ग बन्द था। उनके व्यक्तिगत जीवन में कोई नवीन परिस्थिति अथवा भौतिक बाह्य संसार से नवीन संपर्क ही अब उस रुँधे मार्ग को खोल सकते थे। बंगाल का अकाल और देश की क्रान्तिकारी परिस्थिति उनके विचारों में आमूल परिवर्त्तन कर रहे हैं।

दूसरी धारा के प्रतिनिधि कवि बहुत तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। पन्त की प्रेरणा विशेष सजग और तरल रही है। 'ग्राम्या' की कविताएँ दिसम्बर १६३९ से फरवरी १९४० तक केवल तीन महीनों में लिखी गई है। साथ ही कला के प्रति जो उदासीनता 'युगवाणी' की कुछ बौद्धिक रचनाओ में थी, वह 'ग्राम्या' में नहीं। 'ग्राम्या' की अनेक कविताएँ इस युग की प्रौढ़तम रचनाएँ है। इसी प्रकार भगवती बाबू, 'नवीन', 'दिनकर' और नरेन्द्र आदि के काव्य में हम अदम्य वेग और शक्ति देखते हैं।

इसका कारण स्पष्ट है। हमारे समाज में जो शक्तियाँ प्रगतिशील है, उनके प्रतिनिधि यह कवि हैं। सांस्कृतिक सघर्ष में जो शक्तियाँ बल पकड़ रही हैं, उनकी रचना में ओज और बल होगा ही।

इन कवियों में एक टोली राष्ट्रीय विचारों को लेकर चली है, दूसरी समाजवाद को। आज भारत की समरभूमि में राष्ट्रीय और समाजवादी दोनो कवि ही प्रगतिशील हैं, किन्तु एक दिन राष्ट्रीय कवियो को भी निश्चय करना होगा कि वर्ग-संस्कृति की शृंखलाओं को वे तोड़ेंगे अथवा नहीं; उन्हे फासिज्म और समाजवाद में अपना लक्ष्य तय करना होगा। बिना किसी फिलॉसफी के पथभ्रष्ट होने की सम्भावना रहेगी, जैसा हम जापानी कवि योन नागुची अथवा इटालियन कवि डैनन्जियो के बारे में देखते हैं। इसी प्रकार 'नवीन' 'कुंकुम' की भूमिका मे, 'दिनकर' प्रगतिशीलता पर अपने वक्तव्य में और भगवती बाबू अपनी कविता '१९४०' में ठोकर खा चुके है। उनकी भावनाएँ प्रगतिशील है, किन्तु उनके दिमाग़ अभी तक वर्ग-संस्कृति की शृंखलाओं से सर्वथा मुक्त नही हुए।

पन्तजी अपने ठोस अध्ययन के कारण हिंदी कवियो में सबसे सही वस्तु-विवेचन करते हैं। 'युगवाणी' का रूखापन आप पीछे छोड़ चुके हैं। आपकी भाषा में नई तरलता आ गई है। 'ग्राम्या' में कवि ने नई आँखों से भारतीय गाँव को देखा है। कवि ग्राम-युवती को देखता है :

'उन्मद यौवन से उभर
घटा-सी नव असाढ़ की सुन्दर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मद चरण,
इठलाती आती ग्राम-युवति
वह गजगति
सर्प डगर पर।'

किन्तु सामाजिक शोषण दो दिन में उसका रूप नष्ट कर देता है :

'रे दो दिन का
उसका यौवन।
सपना छिन का
रहता न स्मरण।
दु:खों से पिस,
दुर्दिन में घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन।
ढह जाता असमय यौवन-धन।
बह जाता तट का तिनका
जो लहरों से हँस-खेला कुछ क्षण।'

इस असह्य जीवन से मुक्ति के द्वार खुल रहे है :

'जाति वर्ण की, श्रेणि वर्ग की
तोड़ भित्तियाँ दुर्धर
युग-युग के बंदीगृह से
मानवता निकली बाहर'

गाँव के अनुरूप ही कवि की भाषा ने आज बाना पहना है। पन्तजी की बदलती विकासवान प्रतिभा का यह एक इशारा है :

'उजरी उसके सिवा किसे कब
पास दुहाने आने देती

अह, आँखों में नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती।
बिना दवा-दर्पन के गृहिनी
स्वरग चली,—आँखें आतीं भर,
देख रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर।'

आगे,

'खैर, पैर की जूती, जोरू
न सही एक, दूसरी आती,
पर जवान लड़के की सुध कर
साँप लोटते, फटती छाती।'

'ग्राम्या' की एक कविता 'ग्राम-देवता' विशेष महत्त्व रखती है। इस कविता मे भारतीय संस्कृति का हमे सिंहावलोकन मिलता है, युग-युग की शोषण-पीड़ा और अब त्राण की आशा :

'राम राम'
हे ग्राम देव, लो हृदय थाम,
अब जन स्वातत्र्य युद्ध की जग में धूमधाम।
उद्यत जनगण युग क्रान्ति के लिए बाँध लाम,
तुम रूढ़ि-रीति की खा अफीम लो चिर विराम।'

हिन्दी कविता के मंच पर एक और प्रभावशाली व्यक्तित्व है जिसके वर्णन बिना हिन्दी कविता पर कोई भी निबन्ध अपूर्ण रहेगा। वह व्यक्तित्व है, यथा नाम तथा गुणः 'निराला'। पन्त के शब्दों में 'अनामिका' के कवि ने पर्वत-कारा तोड़कर कविता-धारा को मुक्त किया है, किन्तु साथ ही अपने घोर व्यक्तिवाद के कारण 'निराला' सदा 'फ्री लान्स' रहेंगे और 'निरालावाद' के अतिरिक्त और किसी 'वाद' की सार्थकता न मानेंगे। 'निराला' हिन्दी कविता में एक विप्लव-कारिणी शक्ति रहे हैं, रूढ़िवाद के आप घोर शत्रु हैं। इस नाते हिंदी के इतिहास में आपका नाम आदर के साथ सदैव लिया जायगा।

इस प्रकार हिंदी कविता की शक्तियों का बँटवारा हम सहज ही समझ सकते हैं। संस्कृति में संघर्ष के चिह्न प्रकट होने लगे हैं। यद्यपि सतह पर अभी तक शान्ति है, तल में संघर्ष जारी है। इन्हीं शक्तियों के इर्द-गिर्द हम आज हिन्दी के लेखकों को पायेंगे।

उपन्यास

१

कहानी पूर्व के लिए बहुत पुरानी चीज है, किन्तु उपन्यास अपेक्षाकृत नया है। यह भी हम नहीं कह सकते कि हिंदी-उपन्यास का जन्म पश्चिम के सम्पर्क से हुआ। इस देश में 'बैताल पचीसी' और 'तोता-मैना' आदि लम्बे किस्से बहुत पहले से चले आ रहे हैं। पद्य में लम्बी कहानी परम्परा से हम सुनते हैं। हिंदी के पहले लोकप्रिय उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' का जन्म फारसी के प्रभाव से हुआ। इस ढंग के उपन्यासों की हिंदी में कुछ समय तक बाढ़-सी आई। हिंदी-उपन्यास के दूसरे युग में जासूसी उपन्यासों की भरमार रही। तीसरे युग में सामाजिक उपन्यास फले-फूले और हिंदी-साहित्य ने लम्बे-लम्बे डग भरे। हिंदी-उपन्यास के इस वर्तमान रूप पर अवश्य अंग्रेजी की गहरी छाप है।

तिलिस्मी और जासूसी उपन्यास साहित्य की कोई निधि न हो सके। वे केवल समय काटने और मनोरंजन की सामग्री थे। जीवन से कोई उनका सम्पर्क न था। चरित्र-चित्रण उनमें बहुत स्थूल होता था। कथानक का गुण उनमें अवश्य रहता था। जिस साहित्य की जड़ें पृथ्वी में नहीं, उसका जीवन भी क्षणभंगुर होता है।

हिंदी में स्वर्गीय प्रेमचंद से पहले भी सामाजिक उपन्यास लिखे गये थे। पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने दर्जनों उपन्यास लिखे होंगे। ये उपन्यास अपेक्षाकृत जीवन के अधिक निकट थे, किंतु चरित्र-चित्रण

की इनमें कोई जटिलता न थी। हिंदी उपन्यास के इस शैशव-काल में अन्य भाषाओं से अनुवाद भी खूब हुए। बंकिम बाबू की 'देवी चौधरानी' अथवा श्री हरी नारायण आपटे की 'तालीकोटा की लड़ाई' खूब पढ़े गये। अंग्रेजी और फ्रेंच उपन्यासो के अनुवाद भी हुए।

'सेवा-सदन' का प्रकाशन हिन्दी साहित्य के इतिहास मे एक स्मरणीय घटना रहेगी। यह हिन्दी का प्रथम अमर उपन्यास था। 'सेवा-सदन' नगर-जीवन का विहंगम दृश्य है। अपनी युवावस्था में प्रेमचन्दजी ने बनारस की सड़को की भी काफी धूल छानी होगी। 'सेवा-सदन' में मध्य-वर्ग के हिन्दू परिवार का भीषण चित्र है। यह उपन्यास उस काल का लिखा है जब स्वर्गीय प्रेमचन्द समाज के रोगो की दवा जगत् से दूर कोई एकाकी आश्रम समझते थे। 'सेवा-सदन' मे मनुष्य-स्वभाव की अच्छी सूझ है। यह हिन्दी-उपन्यास में एक दम नई बात थी। कथानक का विकास पात्रो की आन्तरिक प्रेरणा से हुआ है, बाहर से नहीं। 'सेवा-सदन' विदेशी-साहित्य से चाहे प्रभावित हुआ हो, किन्तु इसके चित्र भारतीय चित्र हैं।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्दजी भारतीय गाँव की ओर मुड़े और राष्ट्रीय भावनाओ में भी रँग गये। अब हम उनको ग्राम-जगत् के कलाकार के रूप मे ही अधिक पहचानते है। भारतीय किसान का जीवन उनकी कृति में मानो सहस्र जिह्वाओं से बोल उठा है। पुराने जमींदार घरानो के द्वेष, फूट, दिवालियापन का भी आपने अच्छा नकशा खींचा। साथ ही इस दारुण व्यवस्था से मुक्ति पाने की दूर कुछ झिलमिल आशा देखी। इस विचारधारा के अनुसार कोई उदार धनिक 'प्रेमाश्रम' बसाकर हमको जीवन की इस व्यथा से उबार लेगा।

'रंगभूमि' मे प्रेमचन्द समस्त जीवन को अपना क्षेत्र मानकर उठे। संसार की 'रंगभूमि' का उन्होने एक व्यापक विशाल चित्र खींचने का प्रयत्न किया। 'रंगभूमि' मे कथानक की जटिलता पर प्रेमचन्द ने पूर्ण अधिकार दिखाया। कुछ अमर पात्रों की भी इस उपन्यास मे सृष्टि हुई। सूरदास, विनय, सोफिया आदि। कहते हैं, सूरदास का

मॉडल प्रेमचन्द को अपने ही गॉव से मिला था। 'रंगभूमि' की विशेषता चित्रपट की विशालता थी। इस उपन्यास में कलाकार ने भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू को छूने का प्रयत्न किया—ग्राम, नगर, समाज के विभिन्न वर्ग और श्रेणी, हिन्दू, ईसाई, मुसलमान...... ।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द की कला ने एक चिन्ताजनक रुख पलटा। इस उपन्यास मे बहुत-सी बातें मनुष्य की सहज बुद्धि से परे थीं। हिन्दी के भाग्य से प्रेमचन्दजी इस दिशा में और आगे नहीं गये और पार्थिव जगत् की वास्तविकता की ओर फिर लौट आये।

इस बीच मे 'प्रतिज्ञा', 'वरदान', 'निर्मला' आदि आपके उपन्यास निकलते रहे जिनसे किसी और कलाकार का नाम हो सकता था, किन्तु आपकी कला के ये मध्यवर्ती गिरि-शृंग हैं।

'गबन' के प्रकाशन से यह आशंका नष्ट हो गई कि प्रेमचन्द उपन्यासकार अपना उच्चतम कार्य कर चुके। 'गबन' ऊॅची श्रेणी का उपन्यास था। इस बार फिर प्रेमचन्द ने हमें भारतीय नागरिक समाज का नग्न और वीभत्स चित्र दिखलाया। यह उपन्यास भारतीय जनसमाज को क्रान्ति की चुनौती है। 'सेवा-सदन' और 'गबन' मे प्रेमचन्द ने यथार्थवादी चित्र खींचे हैं। इसी कोटि मे हम 'कर्मभूमि' को भी रख सकते हैं।

'गोदान' लिखते समय प्रेमचन्द अपनी शक्तियों पर पूर्ण अधिकारी थे। 'गोदान' आपका सबसे शक्तिपूर्ण उपन्यास है। आपकी भाषा मँजकर काव्यपूर्ण हो गई है। आपकी टेकनीक प्रौढ़ है। ग्राम्य जीवन के प्रति आपका आदर्शवाद भी कुछ ढल चुका है। होरी भारतीय किसान की शक्ति का प्रतिनिधि है। यही शक्ति भविष्य का अवलम्बन है, प्रेमशंकर की उदारता नहीं।

'गोदान' चिरकाल तक हिन्दी उपन्यास का जय चिह्न रहेगा। कथा की धारा यहाँ अविरल बही है। अनेक पात्र जीवन की झाँकी देते हुए हमारे नेत्रों के सामने से गुजर जाते है। इनको हम सदैव ही याद रक्खेंगे और जीवन को इनके माप-दण्ड से नापेंगे। भाषा में इस सन्ध्या-

काल में कुछ अजब सुनहलापन आ गया है। हम सोचते हैं, यह जो जीवन-यात्रा का थका पंछी विश्राम की आशा से अपने नीड़ की ओर आ रहा था, उसके परों में अब भी शक्ति और वेग थे, अभी वह आकाश में ऊँची उड़ान लेने की क्षमता रखता था।

प्रेमचन्द में कथाकार के स्वाभाविक गुण थे। वे अच्छे कथानक जानते थे। जीवन के पात्रों को वे पहचानते थे। उनके दिमाग़ की सब क्रिया जैसे किसी काँच के केस के नीचे वे देख रहे हो। आपके पात्र जीवन मे हमारे दुःख-सुख के साथी बन गये हैं। प्रेमचन्द के उपन्यासों के बाद हिन्दी-उपन्यास गर्वोन्नत अन्य भाषाओं की होड़ कर सकता है।

प्रेमचंद ने मानो कहानी का बाँध खोल दिया। अब हिंदी मे निरंतर उपन्यास निकल रहे हैं, किंतु युवक कलाकारों मे हमें ऐसा कोई नहीं दीख रहा जो रीते आसन पर आपका स्थान ले।

'प्रसाद'जी ने अपने जीवन-काल में केवल दो उपन्यास लिखे: 'कंकाल' और 'तितली'। इनका हिंदी-उपन्यास की गति विधि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। 'कंकाल' की भाषा सुंदर थी, किंतु क्लिष्ट थी। साधारण पात्रों की बात-चीत के लिए यह अनुपयुक्त थी। कथा-प्रवाह और पात्रो में भी कुछ प्रौढ़ कला न थी। 'तितली' का स्थान हिंदी के उपान्यासों में ऊँचा होगा। इस कथा की भित्ति यथार्थ जीवन पर थी। भारतीय समाज की वेदना और दुर्बलताएँ यहाँ सजीव रूप मे दिखीं। 'तितली' का चरित्र-चित्रण भी उच्च-कोटि का था। प्रेमचंद की कला का 'तितली' पर स्पष्ट प्रभाव था।

'तितली' पढ़कर बरबस ही यह विचार मन में उठता है कि यदि 'प्रसाद' कुछ दिन और जीवित रहते तो 'कामायनी' की तरह उपन्यास में भी शायद कुछ चिर-स्मरणीय चीज़ लिख जाते।

जैनेन्द्र हिंदी के बढ़ते हुए कलाकारों मे हैं। अभी तक आप चार उपन्यास लिख चुके हैं। 'परख', 'सुनीता', 'त्याग पत्र' और 'कल्याणी'।

'परख' ने पहले हिंदी-संसार की दृष्टि आपकी ओर फेरी। इस

उपन्यास के वेश-विन्यास में आकर्षक सादगी थी। इसकी नायिका 'कट्टो' का हिंदी मे नाम हो गया है, और भी चरित्र-चित्रण सुन्दर हुआ है। 'परख' मे ध्यान आकर्षित करने का गुण था, चरित्र-चित्रण की सच्चाई, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, भाषा की सादगी।

'सुनीता' मे ये मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ अधिक उलझ गईं, जिसके कारण 'सुनीता' और 'हरिप्रसन्न' दो पात्रों का चित्रण गूढ और रहस्यमय हो गया। हमारे मन में यह भावना होती है कि लेखक कुछ अधिक गहरी बात कहना चाहता है, किंतु उसे कह नहीं पाया।

'त्याग-पत्र' में हिंदू-समाज की अंतर्वेदना निहित है। जैनेन्द्रजी का सबसे अधिक शक्तिपूर्ण उपन्यास यही है। एक भारी कठिनता और अवसाद इस कथा में है—भारतीय नारी का विषम और दारुण जीवन जो पल-पल पर उसके अभिमान को कुचल डालना चाहता है। इस कथाभाग के पीछे जैसे युग-युग की पीड़ा घनीभूत है, किन्तु आँसुओं में बहकर नहीं निकल पाती। समाज के विचारालय में 'त्याग-पत्र' नारी का कठिन आरोप है।

'कल्याणी' में जैनेन्द्र ने भारतीय नारी का एक नया चित्र बनाया, किन्तु इस उपन्यास मे आपकी भाव-धारा अस्पष्ट है।

जैनेन्द्र पिछले वर्षों में आध्यात्मिकता की ओर अधिक जा रहे हैं। आशा है, कला का आँचल छोड़ आप केवल दार्शनिक ही न रह जायँगे।

उच्च श्रेणी के अन्य कलाकार भी उपन्यास के क्षेत्र में हैं: श्री 'निराला', भगवतीचरण वर्मा और सियारामशरण गुप्त। इनकी ओर आलोचकों का ध्यान कुछ कम आकर्षित हुआ है, क्योंकि इनका कार्य उपन्यास के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं। 'निराला'जी अब तक 'अप्सरा, 'अलका', 'निरुपमा', 'बिल्लेसुर', 'बकरिहा', 'चोटी की पकड़' आदि उपन्यास लिख चुके हैं। 'चमेली', अप्रकाशित उपन्यास का एक परिच्छेद फरवरी के 'रूपाभ' में निकला था। आपके चरित्र जटिल होते हैं; आपकी भाषा में रस रहता है, आपके कथानक में काफी आकर्षण रहता

है। किंतु आपके कथानक में घटना-बाहुल्य रहता है, और आपके चित्रों में कोई केन्द्रित व्यवस्था नहीं रहती। आपकी कथा डॉवाडोल लक्ष्यहीन, सी मानो भटकती हो। 'चमेली' का एक परिच्छेद जीवन की उग्रतर आलोचना है। ग्राम्य-जगत् के इस चित्र में काफ़ी शक्ति है :

'उतरता वैशाख। खलिहान में गेहूँ, जौ, चना, सरसों, मटर और अरहर की रासें लगी हुई हैं। गाँव के लोग मड़नी कर रहे हैं। कोई-कोई किसान, चमार-चमारिन की मदद से, माड़ी हुई रास ओसा रहे हैं। धीमे-धीमे पछियाव चल रहा है। शाम पाँच का वक्त। सूरज इस दुनिया से मुँह फेरने को है।...'

'बिल्लेसुर बकरिहा' भी ग्राम-जीवन की कठोर आलोचना है।

'चोरी की पकड़' अतीत का एक चित्र है।

श्री० भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' शक्तिपूर्ण उपन्यास था। प्राचीन भारत के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का वह सजीव चित्र था। इसमें कुछ बहुत ऊँचे उठे चरित्र थे। मनुष्य जीवन से विलग हो मुक्ति नहीं पा सकता, यह इस कथा का इङ्गित है। अनातोले फ्रांस के 'थायस' (Thais) का भी यही कथाप्रवाह है, किन्तु 'चित्रलेखा' का वातावरण इतिहास और उपनिषदों से निर्मित एकदम भारतीय है।

'तीन वर्ष' में वर्माजी आधुनिक समाज की ओर झुके। 'तीन वर्ष' जीवन के कटु अनुभव पर निर्भर समाज की उग्र आलोचना है। 'तीन वर्ष' जीवन का एक छोटा-सा कटु टुकड़ा है। इसके पात्र जीवन की जूठन हैं : मद्यप, वेश्याएँ, वेश्यागामी। किन्तु इनमें शिक्षित समुदाय से अधिक सच्चरित्रता और उदारता है।

हाल में वर्माजी ने एक नया उपन्यास लिखा है जो जीवन का वृहत् विस्तृत चित्र है। वर्माजी हिन्दी, साहित्य मे आज एक बड़ी जीवित शक्ति हैं।

श्री सियारामशरण गुप्त में उपन्यासकार के स्वाभाविक गुण हैं। आपकी कथा मे सच्ची भारतीयता होती है; आपके दृष्टिकोण में

उदारता है। यदि वर्माजी मन उद्विग्न कर देते हैं, तो आप हमें शान्ति पहुँचाते हैं। आपकी कथा शैली बहुत मँजी और प्रौढ़ है। आपकी उपमाएँ हमें विशेष सुंदर लगीं।

इस समय हिंदी में अनेक उपन्यासकार सजीव है। श्री चतुरसेन शास्त्री, ठाकुर श्रीनाथसिंह, श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री वृन्दावन लाल वर्मा, श्रीमती उषादेवी मित्रा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय' और यशवाल। अन्य नवयुवक लेखक भी हिंदी-उपन्यास का भाण्डार भर रहे हैं।

पश्चिम मे उपन्यास-कला मे बड़े-बड़े परिवर्त्तन हो रहे हैं, जिनका प्रभाव हिन्दी पर भी दृष्टिगोचर होता है। संतोष की बात यह है कि हिन्दी-उपन्यास भारतीय जीवन का ही प्रतिविम्ब है। स्वर्गीय प्रेमचंद ने ग्रामीणो और किसानों का जीवन अंकित किया था, उनके परवर्त्ती उपन्यास ने शिक्षित मध्य-वर्ग के समुदाय का गार्हस्थ्य जीवन अपनाया।

हाल में ही श्री 'अज्ञेय' ने 'शेखर' नाम का एक विस्तृत उपन्यास लिखा है। 'टेकनीक' के लिहाज से यह एक नई वस्तु है। 'शेखर' एक ही व्यक्ति के जीवन का विस्तृत चित्र है। 'शेखर' के पहले भाग में कथा का प्रभाव तो बहुत धीमा है, किन्तु प्रत्येक अंग सुघड़ और शिल्पकला में ढला है। उपन्यास अन्तर्मुखी है। और इसकी गठन अंतर्जगत् के चित्रो की पंक्ति मात्र है।

यशपाल ने 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही' और 'दिव्या' मे उत्तरोत्तर प्रौढ़ता दिखाई है। आपका जीवन-दर्शन, शिल्प और मानव स्वभाव पर अधिकार आपके विशेष गुण है।

हिंदी उपन्यास का इतिहास अभी अपेक्षाकृत नया है। किंतु इस थोड़े समय मे ही उसने बहुत उन्नति की है। इसका अधिकतर श्रेय केवल एक कलाकार को है। हमें हर्ष है कि उस कलाकार के निधन से हताश न हो हिन्दी उपन्यास तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है।

ठाकुर श्रीनाथसिंह और श्रीभगवतीप्रसाद वाजपेयी ने सफल

सामाजिक उपन्यास लिखे हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री और श्री वृन्दावन-लाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यास की दिशा में अच्छा प्रयास किया है। मध्य युग के काल-खंड को इन कथाओं ने अपनाया है। ऐतिहासिक उपन्यास में स्वर्गीय राखाल बाबू के 'करुणा' और 'शशांक' प्राचीन भारत के बड़े सुन्दर और सजीव चित्र हैं।

श्रीमती उषादेवी मित्रा के चार उपन्यास निकल चुके हैं। आपकी अलंकार-बोझिल भाषा के अतिरिक्त आपका विशेष गुण स्त्री-स्वभाव की सूझ है। आपने उच्च श्रेणी की पात्राओं का अपनी कथाओं में चित्रण किया है। इस गुण के कारण उपन्यास-क्षेत्र में आपका विशेष स्वागत होना चाहिए।

श्री इलाचंद्र जोशी मनोविश्लेषण से विशेष प्रभावित हुए हैं। आपके उपन्यासों में प्रमुख 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', और 'प्रेत और छाया' हैं।

२

हिंदी उपन्यास अपने जीवन का एक सुदीर्घ काल पार कर इतिहास की सामग्री बन चुका है। आगे चलकर उसकी रूप-रेखा क्या होगी। यह प्रश्न मन में उठता है। वर्तमान के बल पर ही हम भविष्य का चिन्तन कर सकते हैं।

आज हमें उपन्यास की भूमि में प्रेमचन्द की समता करनेवाला कोई उन्नत कलाकार नहीं दीख रहा। किन्तु प्रेमचन्द अपने युग में लगभग एकाकी थे और आज मानो बाँध तोड़कर उपन्यास की धारा बह रही है। कल के उपन्यासकारों में हम प्रेमचन्द, 'प्रसाद', 'सुदर्शन', कौशिक, 'निराला', आदि को गिन सकते हैं। आज की शक्तियाँ जो कल और भी प्रखर हो सकती हैं, कुछ तो प्रकाश में हैं: जैनेन्द्र भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय', यशपाल; जो भविष्य के गर्भ में छिपी हैं उनके बारे में क्या कहा जाय? इतना तो है ही कि उपन्यास, लेखन संक्रामक रोग है। अनेक वाणी जो आज मौन हैं, कल मुखरित हो उठेंगी।

हिन्दी उपन्यास का इतिहास लगभग प्रेमचन्द की कला का इतिहास है। आधुनिक साहित्य के शैशव काल में अवतरित होकर प्रेमचन्द ने कल्पनातीत कारीगरी दिखाई। उनकी 'टेकनीक' तो प्रौढ़ थी ही, पाश्चात्य साहित्य का और उपन्यास-कला का उन्होंने अच्छा अध्ययन और मनन किया था। सामाजिक शक्तियों के संघर्ष की भी उन्हें अद्भुत सूझ थी। उनके उपन्यास-संसार में भारत की वर्तमान अवस्था सजीव चित्र की भाँति हमारे सामने घूम जाती है। भारत की प्रकृति-भूमि : आम-महुए का साज; फाग और डफ, कोयल की हूक, ग्राम्य-श्री। समाज के सभी वर्ग : महाराजे, रईसजादे, जमींदार, बनिए, सूदखोर, सरकारी अहल्कार, कारिन्दे, छोटे अफसर, सबसे बढ़कर भारतीय किसान, 'होरी' शोषित, आहत, दयनीय। इस प्रकार शरीर से सुगढ़ और प्राण से सम्पन्न एक विशाल दुनिया में हम जा पहुँचते हैं।

प्रेमचन्द की कला में हमें भारतीय जीवन की अनेकरूपता मिली। आज के कलाकार जीवन का एक सीमित भाग अपनाते हैं जो उनका अपना संकुचित दायरा है। यही उनकी विजय है और पराभव भी।

आज हिन्दी उपन्यास की धारा अनेक शाखाओं में फूट बहुमुखी हो रही है। जैनेन्द्र हिन्दू नारी के चार चित्र बना चुके हैं : कट्टो, सुनीता, मृणाल और कल्याणी। कुछ पुरुष भी हैं। किन्तु जकड़ी समाज के यह सभी कुण्ठित प्राणी एक असहाय-सा भाव मुख पर लेकर आते हैं, मानो किसी अज्ञात कारणवश उनकी गति अवरुद्ध है और खुल नहीं पाती। सियारामशरणजी की कला घी के दिए की लौ के सदृश निर्मल है और उनके कला-जग में आहत को शांति मिलती है। किन्तु जो क्षुब्ध सागर हमारे चतुर्दिक् लहरें मार रहा है, उसका इस कला से कुछ सम्बन्ध नहीं है। मरुभूमि में 'ओसिस' समान सुखप्रद यह कल्पना मृगतृष्णा तो नहीं? श्री भगवतीचरण वर्मा अभी उपन्यासकार के रूप में विकसित हो रहे हैं। खँडहर में बन्द व्यक्ति के समान अभी वह प्रतिध्वनि का पीछा कर रहे थे, किंतु कुछ दिनों से उनकी कला में एक नवीन स्फूर्ति आ रही है। वाजपेयीजी

'टेकनीशियन' है। वह जीवन का कोई टुकड़ा काटकर हमारे सामने रख देते हैं, और कुशलतापूर्वक, कारीगरी से। श्रीमती मित्रा 'रोमैण्टिक' है। जीवन आपके लिए एक आकर्पित मेला है। जिसका आप रसवन्ती भाषा में वर्णन करती हैं। 'अज्ञेय' अभी तक ऩ ही व्यक्तित्व का चित्रण कर सके हैं।

इन कलाकारो से भविष्य क्या आशा रक्खे? जैनेन्द्र की कला का अभी स्वतन्त्र विकास हो रहा है। हिन्दू गृहस्थ के घर का परदा उठाकर आपने अन्दर झॉकने का साहस किया है और एक करुण, मर्म आघात करनेवाला दृश्य हमें दिखाया है। क्या जैनेन्द्रजी की कला का वाह्यरूप हल्का हो रहा है? आपकी कथा के पात्र उत्तरोत्तर कम हो रहे है और 'कल्याणी' में केवल एक ही पात्री है। दूसरी वात, क्या जैनेन्द्रजी की विचार-परिधि फैलेगी या वे अपनी वात दुहराने लगेंगे? दूसरे शब्दो में क्या उपन्यास आपके लिए 'प्रश्नोत्तर' का एक व्याज रूप तो न हो जायगा? 'कल्याणी' में इसकी एक चिन्तनीय झलक है। इन शकाओं के संतोपप्रद समाधान पर हिन्दी उपन्यास की प्रगति का एक वड़ा अङ्ग निर्भर है।

श्री भगवतीचरण वर्मा से हमे वहुत कुछ आशा है। आप हिन्दी मे एक गतिशील शक्ति हैं, आपकी नवीन रचनाओ की प्रगति विकास-मान है और आपके व्यक्तित्व में विप्लव-भावना के साथ-साथ ग्रहण करने की क्षमता भी है। आप आजकल एक वृहद् उपन्यास लिख रहे है जिसमें हमारे समाज का व्यापक चित्रण होगा। वर्माजी अपने वर्ग के वाहर कुछ नहीं जानते, यह उनके वर्ग का ही वन्धन है। समाज का कारागार खुलने पर भारतीय कलाकार का वन्धन भी खुल जायगा और कला के मुक्त प्राण पंख खोल उड़ सकेंगे।

यशपाल हिन्दी के विकासोन्मुख कलाकारों में प्रमुख हैं। निस्सदेह ही आपकी रचनाएँ हिन्दी उपन्यास का भविष्य वनाएँगी।

कला के विकास में व्यक्ति-विशेप सहायक हो सकते है, किन्तु उनसे वढकर कला का स्वतन्त्र जीवन अपनी गति पर आवद्ध चला

ही जाता है। हम देखते हैं कि कुछ कलाकारों ने हिन्दी उपन्यास को रूप दिया है; किन्तु उपन्यास की अपनी सजीवता ने भी उन्हें बनाया है। हम कह सकते हैं कि निकट भविष्य में हिन्दी में खूब उपन्यास लिखे जायँगे, उनकी रूप-रेखा जो भी कुछ हो।

कला का रूप समाज के अनुकूल परिवर्तनशील और वर्द्धमान है। कला समाज से अलग कोरी कल्पना के भवन में नहीं जी सकती। आज संसार में क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं और भारतीय समाज में बेहद उथल-पुथल है। इस संकट-काल में संस्कृति का रूप भी अस्थिर और डावाँडोल होगा। यदि भारतीय संगीत के समान वह जड़ है तो समाज का एक मृतप्राय सामन्ती अंग ही उसका उपभोग कर सकता है।

संकट-काल में कला के स्वरूप में भी उथल-पुथल जरूरी है। एक मार्ग है आदर्शवाद जो श्री सियारामशरण ने अपनाया है, अथवा 'रोमैन्टिसिज्म'-जो श्रीमती उषादेवी मित्रा की कला ने ग्रहण किया है। या तो कलाकार अतीत की ओर मुड़ जाता है जहाँ उसके आहत अभिमान को 'मधु-सग्रहम' मिलता है, अथवा कल्पना के लोक में निकल भागता है जहाँ स्वर्ग-परियाँ विहार करती हैं। ऐसी कला को हम गति-रुद्ध कहते हैं, क्योंकि जीवन की चुनौती से वह बचती है। संकट-काल में कला की बाह्य रूप-रेखा में अनेक अन्वेषण होते हैं। यूरोप में काव्य, संगीत, उपन्यास, चित्रकला, स्थापत्य सभी के अङ्ग बदल रहे हैं। 'अज्ञेय' टेकनीक के आविष्कारों में लिप्त हैं। 'विपथगा' में मानो 'कुछ भी नहीं' को वह नये-नये रूप में रखकर देख रहे हैं। 'विपथगा' की अनेक कहानियाँ सुगढ़ कला का प्रमाण हैं, किन्तु कुछ विदेशी जीवन को स्पर्श करती हैं, कुछ 'कड़ियों' की भाँति टेकनीक के अनुसन्धान में मग्न हैं और मर्मस्थान को नहीं छू पातीं। इस प्रकार बन्दी कलाकार का जीवन कुण्ठित रह जाता है और कुछ कह-कर वह अपनी आत्मा का बोझ हल्का नहीं कर पाता। 'शेखर' में भी हम देखते हैं कि मन के भारी बोझ के कारण कथा की गति अवरुद्ध

है। 'अज्ञेय' की कला इस बात का प्रमाण है कि प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार भी संकट-काल में अधिक नहीं खुल पाता।

समाज और साहित्य के इस अन्तरङ्ग सम्बन्ध को समझ हम उपन्यास की प्रगति भी समझ सकते हैं। जो कलाकार समाज की बेड़ियाँ तोड़ने को अधीर हैं, वे आज भी प्रतिभाशाली साहित्य की रचना कर सकते हैं। उनके प्राण जितने मुक्त होंगे, उनकी रचना में उतनी ही गति होगी। किन्तु समाज का बन्धन टूटने पर कला का विकास कल्पनातीत होगा। उन्नत समाज की संस्कृति मे अनन्य गति भर जाती है, इसका साक्षी इतिहास है। जो हमारे 'मिल्टन' आज मूक हैं उनकी वाणी भविष्य मे मुखरित हो उठेगी। व्यक्ति-विवेचन छोड़ हम कह सकते हैं कि हिन्दी की उपन्यास-कला में निकट भविष्य में ही नये जीवन की उमंग भर जायगी और पिंजर-मुक्त पक्षी के समान पंख खोल उड़ सकेगी। अभी तो 'पिंजरे की उड़ान' है।

कहानी

प्रेमचन्द, कौशिक और सुदर्शन की कला में जिस गम्भीर और गहरी धारा में हिन्दी-कहानी वही थी, उसे छोड़ अब वह नई-नई शाखाओं में फूटकर कुछ 'विपथगा'-सी हो रही है। आधुनिक हिन्दी कहानी में प्रेमचन्द ने प्राण फूँके, 'प्रसाद', कौशिक और सुदर्शन ने इसे विकसित किया; अब वह अपने विकास के नये पथ खोज रही है।

हमारे नये गल्पकारों में जैनेन्द्रजी का नाम अग्रगण्य है। आप अनेक सुन्दर कहानी लिख चुके हैं। आपके कई संग्रह भी निकल चुके हैं। आपकी 'खेल' नामक कहानी से प्रसन्न हो कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि 'हिन्दी मे हमको रवि बाबू और शरत् बाबू अब मिले और एक साथ मिले!'

जीवन के बहुत उलझे हुए ताने-बानों से जैनेन्द्रजी बचते-से हैं।

आपके उपन्यासों में भी थोड़े से ही पात्र होते हैं। जीवन की झाँकी मात्र आपको रुचिकर है। उसी झाँकी द्वारा आप अपने गहनतम भावों को प्रकट कर देते हैं। गल्पकार का यही गुण होना चाहिए।

जैनेन्द्रजी ने अनेक ढंग की कहानियाँ लिखी हैं। 'मास्टर साहब' कुछ बंगाली वातावरण की ; 'एक रात' कुछ रूसी पुट लिये ; प्राचीन राजकुमार और शिल्पकारों की जीवन गुत्थियाँ रेल-यात्रा की रोचक घटनाएँ। आप जीवन के सभी क्षेत्र अपनाते हैं। टेकनीक आपकी नवीन है, किन्तु आपकी कला की आत्मा भारतीय है। उन्नीसवीं शताब्दी में विदेशी कलाकारों का ऐसा नियम था कि पेंसिल और नोट-बुक लेकर वे घर से बाहर निकल पड़ते थे। जैनेन्द्रजी भी अपनी पेंसिल और नोट-बुक घर पर कभी नहीं भूलते।

जैनेन्द्रजी का कथानक सीधा और सुलझा हुआ होता है। मनोवैज्ञानिक गुत्थियों में ही कभी-कभी आप उलझ जाते हैं। जीवन का कोई एक अंग वह अपनाते हैं। जन्म मरण की यहाँ समस्या नहीं। चरित्र-चित्रण ही लेखक का ध्येय है। इन कहानियों का आदि अन्त कुछ नहीं। 'फोटोग्राफी' और 'खेल' इसी शैली की कहानी हैं। पश्चिम में वह शैली 'चेकॉफ' के साथ लोकप्रिय हुई थी।

इधर दो-एक वर्ष से जैनेन्द्रजी की कला ने जो रूप लिया है, उससे चिन्ता होती है। अधिकाधिक आप जीवन की वास्तविकता और कटुता से बचकर चल रहे हैं। आपकी लम्बी कहानी 'त्याग-पत्र' पढ़कर हमको भारी सन्तोष हुआ। ऐसी व्यथा, कठिनता और स्वाभाविकता उच्च-कोटि के साहित्य में ही मिल सकती है।

श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालंकार उच्च-श्रेणी के आलोचक हैं। हिन्दी कहानी-साहित्य पर आपका निबन्ध अभूतपूर्व रूप से निर्भीक और गम्भीर था। आपने अनेक रोचक कहानी लिखी हैं। 'ताँगेवाला' नाम की कहानी हमको विशेष अच्छी लगी ; आपने गल्प-कला के सम्बन्ध में शायद बहुत कुछ सोचा है। आपकी 'क ख ग', 'एक सप्ताह', 'चौबीस घण्टे' आदि कहानियों से यह स्पष्ट है। 'क ख ग' जीवन के तीन

विभिन्न चित्र हैं। तीनों में रक्तपात और मृत्यु है। रेल, स्टेशनों और ग्राम्यजीवन का स्वाभाविक वातावरण है। टेकनीक उत्कृष्ट है। 'क ख ग' यह तीनों चित्र मिलकर जीवन का व्यापक चित्र बन जाते हैं।

'एक सप्ताह' पत्रो द्वारा वर्णित कहानी है। पहाड़ के ग्रीष्म जीवन का यहाँ रोचक परिचय मिलता है। कथानक नहीं के बराबर है। सप्ताह भर में एक युवक प्रेम, निराशा सभी अनुभव कर वापस लौट आता है।

'चौबीस घण्टे' मे भूकम्प द्वारा एक दिन में घटित परिवर्त्तन का हाल है।

समय और कला का कहानी में मूल्य कम होता जा रहा है। जन्म-मरण पर्यन्त मनुष्य जीवन रोचक नहीं होता। जीवन के कुछ मूल्यवान-क्षण लेकर ही आधुनिक कलाकार उन पर तीव्र तम प्रकाश डालता है।

चन्द्रगुप्तजी कहानी के बाह्य रूप मे अधिक लीन रहे हैं। टेकनीक में किये आपके अन्वेपण और अनुसंधान हिन्दी-कहानी की उन्नति में विशेप सहायक होगे।

'अज्ञेय'जी की कला में बेहद बल और शक्ति है। आपके हृदय में अग्नि प्रज्वलित है, उसी की ज्वाला आपकी कला में भी झलक जाती है। आपने नवीन पाश्चात्य कथा-शैली को अपनाया है। उसकी स्पष्ट छाया 'प्रतिध्वनियाँ' और 'कड़ियाँ' शीर्पक कहानियो में है। मनुष्य के मन में अनेक-असम्बद्ध भाव उठते रहते हैं—अनेक चित्र एक साथ बनते, बिगड़ते हैं। उन्हीं का चित्रण इन कहानियो में हुआ है। 'कड़ियाँ' हिन्दी-साहित्य की निधि होगी। मनुष्य-मात्र की बिखरी भावनाओ को—उसकी आशा, निराशा, हर्प, उन्माद को—कलाकार ने यहाँ बटोरकर रखा है। बार-बार उसके खींचे शब्द-चित्र हमारे मन में घूम जाते हैं।

'अज्ञेय'जी में काव्य का अंश भी यथेष्ट मात्रा में है। वह आपकी 'अमर-वल्लरी' नाम की कहानी मे प्रकट हुआ है। पीपल के पेड़ ने जीवन के अनेक दृश्य देखे हैं। शताब्दियो से वह प्रहरी की भाँति सिर उठाये यहाँ खड़ा है। अमर-वल्लरी उसके कण्ठ की माला बनी

हुई है। किन्तु पीपल अब वृद्ध हुआ। उसकी धमनियों में रक्त-संचार धीमा पड़ गया है। जीवन के अनेक दृश्य उसने देखे हैं। नित्य प्रभात और सन्ध्या की मधुवेला में स्त्री-पुरुष आकर उसके ऊपर पत्र-पुष्प चढ़ा जाते हैं। वरदान की इच्छुक ललनाएँ उसका आलिङ्गन करती हैं, किन्तु वह अशोक की भाँति फूलकर उन्हें उऋण नहीं कर सकता। जीवन के कितने रहस्य उसके हृदय में छिपे पड़े हैं?

यशपाल के कई कहानी-संग्रह अब तक निकल चुके हैं, 'पिंजरे की उड़ान', 'ज्ञानदान', 'अभिशप्त', इन कहानियों में यशपाल उच्च कोटि के शिल्पकार के रूप में प्रकट हुए हैं। 'अभिशप्त' मे आपने सामाजिक व्यथा के अनेक मार्मिक चित्र खींचे हैं।

श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा की कहानियों में विद्रोह-भावना और सामाजिक असन्तोष है। नवीन शिक्षा और आविष्कारों के साथ जो युग भारत में आया है, उसके आप प्रतिनिधि हैं। इस नवयुग की हलचल, अशान्ति और उतावलापन आपकी रचनाओं मे प्रतिबिम्बित है। आपके कहानी-संग्रह 'इन्सटॉलमेन्ट' का शीर्षक ही इसका द्योतक है। चाय की प्याली के साथ आपकी प्रत्येक कहानी का आरम्भ होता है। 'कार', सुरापान, अनियन्त्रित प्रेम, 'इन्सटॉलमेन्ट' द्वारा ऋणपरिशोध—यह इस मशीन-युग की साधारण बातें हैं। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध की मीमांसा में आप विशेष व्यस्त रहते हैं।

श्री अन्नपूर्णानन्द बीती हुई बातों पर सुन्दर ढङ्ग से विनोदपूर्ण रचनाएँ करते हैं। आपकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह होता है। कहानीकार के आपमें दैवी गुण हैं। हमें खेद है कि अपनी शक्ति का आपने पूर्ण प्रयोग नहीं किया।

आज हिन्दी-कहानी की प्रगति उमड़ी हुई वर्षा-नदी के समान है। अनेक सुप्रसिद्ध कहानीकारों के नाम मन में उठते हैं। कई वर्षों से श्री कृष्णानन्द गुप्त सुन्दर कहानी लिखते आ रहे हैं। आपकी कहानियाँ सदैव रोचक होती हैं। आपका कथानक स्वाभाविक और चरित्र-चित्रण कुशल होता है। श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अच्छी कहानी

लिखी हैं। 'उग्र' ने कुछ वर्षों का मौन तोड़कर फिर लेखनी सँभाली है। पं० विनोदशंकर व्यास में भावुकता और श्रीयुत इलाचन्द्र जोशी मे कला के प्रति विशेष आकर्षण है।

जो और किसी युग मे कहानी नहीं लिखते, वे भी आज कहानी लिख रहे हैं। 'पन्त' अथवा 'निराला' सर्वप्रथम तो कवि है। पन्तजी की 'पाँच कहानियाँ' में सुन्दर रेखा-चित्र हैं। भाषा प्रांजल और प्रवाह-मयी है। इन कहानियों को पढ़ने में गद्य-काव्य का आनन्द आता है। शिक्षित समुदाय के विचार-व्यवहार की पन्तजी को सहज सूझ है। आपकी कला में तितली के पंखों-सी चमक है। हमे दुःख है कि इन कहानियों में भारतीय जीवन की निराशा के अन्तरतम तक पन्तजी नहीं पहुँचे।

इस जागृति-काल में अनेक स्त्री कहानीकार हुई हैं। शिवरानी देवी, कमला चौधरी, उषादेवी मित्रा, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आदि। शिवरानी देवी प्रेमचन्द के पथ पर चल रही हैं—जो स्वाभाविक है। श्रीमती कमला चौधरी की कहानियों में काव्य प्रेरणा, सरलता और उल्लास है। गृह-जीवन आपका विशेष क्षेत्र है। स्त्रियों के दुःख आप सहज ही और मार्मिक भाषा में व्यक्त करती हैं। 'साधना का उन्माद' और 'मधुरिमा' में जो स्त्री-हृदय की सूझ है, वह पुरुष लेखकों की परिधि से सर्वथा बाहर है। उषादेवी मित्रा की भाषा में काव्य और लालित्य रहता है। आपकी 'जीवन-सन्ध्या' शीर्षक कहानी हमको अच्छी लगी। श्रीमती होमवती देवी ने 'विशाल भारत' में कुछ सुन्दर कहानी लिखी हैं। आपकी रचनाओं में 'नारीत्व' सुलभ सुकुमारता और कोमलता रहती है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा का कहानी-संग्रह 'आदमखोर' आपको हिन्दी के उन्नत कलाकारों की पंक्ति मे अनायास ही पहुँचाता है। आपकी कहानियों मे भारतीय नारी के जीवन की व्यथा कूट कूटकर भरी है।

हिन्दुस्तानी के आन्दोलन से हिन्दी-साहित्य को विशेष लाभ हुआ है। अनेक उर्दू लेखकों ने हिन्दी में लिखने का प्रयत्न किया है। इनमें

अहमद अली और सज्जाद जहीर के नाम उल्लेखनीय हैं। अहमद अली की कहानी 'हमारी गली' हिन्दी के लिए एक नई चीज़ थी। गली की दुकानो के, दुकानदारों के, राहगीरो के इसमे सूक्ष्म चित्र हैं। यथार्थवाद का और युरोपीय कहानी की नवीनतम 'टेकनीक' का यह उत्कृष्ट नमूना है। इसकी भाषा भी कहीं-कहीं खूब ऊँची उठी है—विशेषकर अजाँ की प्रतिध्वनि के वर्णन में।

प्रेमचन्दजी ने हमारे ग्राम्य और गार्हस्थ्य जीवन पर ज्योति की वर्षा की थी। आपकी अधिकतर कहानियाँ घटना-प्रधान थीं। मनुष्य के हृदय की यहाँ सच्ची और अच्छी परख थी। हिन्दी कहानी कई वर्ष तक आपके दिखाये पथ पर चली। जीवन-प्रेरणा और विकास के नियमो से उत्सुक अब वह नई दिशाओं की ओर उन्मुख हो रही है।

हिन्दू परिवार में और सामाजिक जीवन में जो परिवर्तन हो रहे हैं, उनका प्रतिबिम्ब हमको इन नये कहानीकारो की रचनाओं में मिलता है। हमारे जीवन-पथ में जो नवीन विचार-धाराएँ प्रकट हुई हैं, विप्लव और विद्रोह की जो प्रबल भावनाएँ जागृत हुई हैं—उनका यहाँ भविष्य के लिए इतिहास लिखा मिलेगा।

कला की दृष्टि से हिन्दी-कहानी ने अनेक अनुसन्धान किये हैं। मनोविज्ञान और यथार्थवाद की ओर हमारा ध्यान अधिक खिंचा है। कथा-शैली में अनेक परिवर्तन हुए हैं। बहुत-कुछ हमने खो दिया है, किन्तु और भी बहुत-कुछ पा लिया है।

किन्तु मूक जनता को भूलकर केवल मध्य-वर्ग की मनोवृत्तियों के अन्वेषण में हिन्दी कहानी का तन्मय हो जाना अहितकर होगा।

आलोचना

१

साहित्य के शैशव मे आलोचना का कोई स्थान नहीं। जब साहित्य प्रौढ़ हो जाता है, तभी आलोचना की उत्पत्ति होती है। पहले काव्य-

सृष्टि होती है, फिर आलोचक पैदा होते हैं। कहते हैं, पहले मनुष्य के मुख से कविता निकली थी, फिर गद्य।

हिंदी का साहित्य बहुत पुराना है। किसी न किसी रूप में आलोचना भी हिंदी साहित्य में रही है। आधुनिक हिंदी साहित्य प्रसव-काल की पीड़ा भूल, एक नये जग को नेत्र खोलकर देख रहा है। आलोचना का क्षेत्र भी अब विस्तृत हो रहा है। सत्साहित्य के लिए अच्छे साहित्य-आदर्श जरूरी हैं। उन्हीं के निर्माण से आलोचक अपने साहित्य की भारी सहायता कर सकता है।

आलोचक का कार्य बड़े महत्त्व का है। ऊँचे आसन पर बैठकर दंड और इनाम देनेवाला पदाधीश वह नहीं है। सत्य की खोज में वह अनवरत लीन तपस्वी है। ऑस्कर वाइल्ड ने आलोचक को कलाकार कहा है। अपनी अनुभूति और कल्पना के सहारे वह काव्य की आत्मा तक पहुँचने का प्रयत्न करता है।

हिंदी आलोचना के तीन स्पष्ट क्रम-विभाग है। पहले काल में पुराने आचार्यों के रस और अलंकार संबन्धी नियम मानकर हम चले। दूसरे काल में नई कसौटियों की ओर भी हमारी दृष्टि गई। अब हम नये साहित्य को नये ही नाप और बाटों से तोल रहे हैं।

रीतिकाल के काव्य में आलोचना का काफी मिश्रण था। अधिकतर कवि नायक-नायिका-भेद अथवा अलंकार और पिंगल समझाने के लिए कविता लिखते थे। इन ग्रन्थों से अलंकार आदि समझना तो कठिन है, किंतु कविता कभी-कभी काफ़ी मीठी हुई है। मालोपमा का इतना अच्छा उदाहरण मिलना कठिन है।

'घन से, तम से, तार से, खंजन की अनुहार।
अलि से, मावस रैन से, बाला तेरे बार।'

मतिराम का 'ललित ललाम', राजा यशवंतसिंह का 'भाषा-भूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण', दास का 'छन्दार्णव पिंगल' अथवा 'काव्य-निर्णय' इसी ढंग के काव्य ग्रन्थ हैं।

हिंदी गद्य के विकास के साथ ही आलोचना भी आगे बढ़ी और

काव्य के गुण-दोष-विवेचन का सूत्रपात हुआ। एक बार भद्दे, पीले काग़ज पर मोटे, सटे अक्षरों मे छपी ग्वाल कवि की भूमिका हमने पढ़ी थी, व्रजभाषा गद्य का वह आकर्षक नमूना थी। भारतेन्दु ने 'कवि वचन सुधा' और अन्य पत्रों में हिन्दी आलोचना को दृढ़ नींव पर रखा। भारतेन्दु रसिक और काव्य-प्रेमी व्यक्ति थे। व्रजभाषा की फुटकर कविताओं का आपने एक बड़ा संग्रह किया जो पालग्रेव की ट्रेजरी की तरह पुराने हिन्दी काव्य का अखंड कोष है।

पुरानी परिपाटी के आलोचकों में अग्रगण्य पं० पद्मसिंह शर्मा, ला० भगवानदीन 'दीन' और प० कृष्णविहारी मिश्र हैं। विहारी पर पं० पद्मसिंह शर्मा का 'संजीवन भाष्य' अनमोल वस्तु है। 'यह खांड की रोटी जिधर से तोड़ो उधर से ही मीठी है।' आपके गद्य में उर्दू और फारसी की स्थान-स्थान पर छींटे स्वाति-वर्षा-सी लगती हैं। हमें खेद है कि 'भाष्य' अधूरा ही रह गया।

विहारी और केशव के पाठ सुलझाने मे लाला भगवानदीन ने भगीरथ प्रयत्न किया। आप विहारी के विचित्र अर्थ भी निकालते थे। वाद-विवाद में पड़कर आप कड़वी और चुभनेवाली बात भी कह डालते थे। विहारी का पाठ सुधारने में रत्नाकर का काम अंग्रेजी आलोचकों की जोड़ का था। 'विहारी रत्नाकर' के ढंग के शेक्सपियर आदि कवियों पर अंग्रेज़ी में अनेक ग्रन्थ हैं।

पुरानी कसौटियों पर जिस संयत और सुन्दर ढंग से प० कृष्ण-विहारी मिश्र ने काव्य-परीक्षा की, उसका हिंदी में दूसरा उदाहरण नहीं। 'देव और विहारी' तुलनात्मक आलोचना का हिन्दी में अब भी सबसे अच्छा ग्रन्थ है। मतिराम से मिश्रजी को विशेष स्नेह है। आपके पाण्डित्य की मिश्री में कोई बाँस की फाँस नहीं।

इस प्राचीन परिपाटी के विरुद्ध हमारे कई आरोप हैं। अलंकार गिनकर काव्य की श्रेष्ठता निर्धारित नहीं की जा सकती। कभी-कभी तो अलंकार की अधिकता खटकती है। पद्माकर विशेष अपराधी हैं। विहारी ने कहा ही है :

भूषण भार सँभारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार ?
सीधे पाँव न धर परत, सोभा ही के भार ?

विना व्यक्तिगत आक्षेपो के यह पण्डितगण कम वात कर सकते थे, जैसे 'मिश्रजी भंग की तरंग मे रह गये' इत्यादि । किसने किससे भाव चुरा लिये, इस विषय से भी वह बड़े परेशान रहे । शेक्सपियर तो अपने नाटकों के सभी प्लाटों के लिए दूसरो का ऋणी था ।

एक नई संस्कृति के संपर्क से हमारे देश के जीवन मे नये प्राण आ गये । गहरी निद्रा से जागकर हमारे साहित्य ने आँखे खोलीं और एक नये ही जग में अपने को पाया । इस काल के आलोचक अतीत के गृह-द्वार पर खड़े भविष्य का अरुणोदय देख रहे है । प्राचीन साहित्य का पूरा ज्ञान इन साहित्यकारो को है, किंतु उनके पाण्डित्य में एक नवीन सजीवता और आकर्षण है ।

हिंदी नव साहित्य के इस उपःकाल में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी एक भारी शक्ति थे । कुछ इसी प्रकार का प्रभाव डा० जॉनसन ने अपने समकालीन साहित्य पर डाला था । 'सरस्वती' के संपादक की हैसियत से द्विवेदीजी ने दृढ़ हाथो से हिंदी साहित्य का संचालन किया । सदा ही द्विवेदीजी के निर्णय ठीक रहे, यह तो नहीं कहा जा सकता ; किंतु आपकी संरक्षकता में हिंदी ख़ूब फली-फूली ।

मिश्रबंधु, बा० श्यामसुन्दरदास और प० रामचन्द्र शुक्ल इसी श्रेणी में हैं । मिश्र-बंधुओ ने हिंदी-साहित्य का दूसरा इतिहास खोज और परिश्रम से लिखा, जिसने 'शिवसिंह सरोज' का स्थान लिया, हिन्दी कवियो का श्रेणी-विभाग किया और 'नवरत्न' लिखकर प्राची कविता को फिर से लोकप्रिय बनाया । मिश्र-बंधुओं मे साहस और स्वन्तत्रता प्रचुर मात्रा मे थे, यद्यपि अधिक गहराई तक वे न पहुँच पाये ।

बा० श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी साहित्य में बड़ी खोज की है और झगड़ो से बचकर चले हैं । देव और बिहारी के झगडे मे हिन्दी के अनेक साहित्यिक खिंच आये और आपस में काफ़ी गाली-गलौज भी हुआ । फिर वर्षों बाद मौन तोड़कर बाबूजी ने देव की सराहना की ।

आपके जीवन के दो काम बहुत महत्त्व के हैं : नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना और शब्द-सागर। नागरी प्रचारिणी की तुलना रायल सोसायटी से और शब्द-सागर की न्यू इँगलिश डिक्शनरी से हो सकती है। बा० श्यामसुन्दरदास ने अनेक ग्रन्थों की खोज और सम्पादन में सभा का हाथ बँटाया है। नाट्य शास्त्र से आपको विशेष दिलचस्पी रही है। 'साहित्यालोचन' में आपने आलोचना-शास्त्र का नवीन पद्धति पर निरूपण किया।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी आलोचना में विशेष स्थान है। आपके व्यक्तित्व की गम्भीरता से हृदय में सहज ही श्रद्धा हो आती है। इतनी गम्भीरता और गहराई तक हिन्दी का और कोई आलोचक नहीं पहुँचा। आपने हिन्दी साहित्य का काल-विभाग किया। तुलसी, जायसी और सूर की पाण्डित्यपूर्ण और अभूतपूर्व आलोचना की और काव्य के अन्तरतम तक पैठने का निरन्तर प्रयत्न किया। हिन्दी के नये कवि और लेखकों से आपको सहानुभूति कम थी, और कहीं-कहीं तो आपकी लेखनी में आवश्यकता से अधिक कड़वाहट आ जाती थी।

नवयुग और साहित्य के साथ-साथ नये पारखी भी पैदा हो रहे हैं। पुरानी काव्य-कसौटियों से नये साहित्य की ठीक परख नहीं हो सकती। कहते हैं कि पुरानी शराब नई बोतलों में न भरनी चाहिए; बोतल टूट जाती है।

इस बार भी नेतृत्व 'सरस्वती' सम्पादक के हाथ रहा। पं० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की आँख 'विश्व साहित्य' की ओर लगी थी। आपका दृष्टिकोण विस्तृत था और नये आलोचना आदर्श आपके सामने थे। कहते हैं कि 'निराला'जी की कविताओं से बख्शीजी बड़े चकित हुए थे; किन्तु पन्त की कविताएँ भी तो धारावाहिक रूप से 'सरस्वती' के पहले पृष्ठ पर निकलती थीं। 'हिन्दी साहित्य-विमर्श' में बख्शीजी ने एक नये दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का सिंहावलोकन किया और विश्व-साहित्य की तुला में हिन्दी को तोला।

हिन्दी के नये काव्य की अनुभूतिपूर्ण सूझ पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

को है। प्रति वर्ष जो आप 'विशाल भारत' में नये काव्य ग्रन्थों की आलोचना करते थे, उसमें आपके ही बताये तीन गुण—कल्पना, चिन्तन, अनुभूति—समान मात्रा में बराबर मिलते थे।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी गम्भीर अध्ययन, मनन और भावुकता से नये और पुराने साहित्य की आलोचना करते हैं। आपकी इस साधना का फल हिन्दी को आगे चलकर अवश्य मिलेगा। इसी दिशा में बा० गुलाब राय, नगेन्द्रजी और श्री सत्येन्द्र के प्रयास भी महत्त्वपूर्ण हैं।

'विश्व भारती' में 'हिन्दी कहानी-साहित्य' पर जो लेख श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने पढ़ा था, वह हिन्दी के लिए एक बिल्कुल नई चीज था। आदर्श आलोचक के अनेक गुण इस लेख में हमें मिले—साहस, सचाई और शैली का ओज। इस लेख में हिन्दी साहित्यकारों के छोटे-छोटे नखचित्र हमें विशेष अच्छे लगे। प्रेमचन्दजी की बड़ी-बड़ी मूछें, स्वर ऊँचा करके हँसने की आदत और ग्रामीणों का-सा वेष, 'प्रसाद' के जीवन-रथ की परिधि, घर से दशाश्वमेध, दशाश्वमेध से घर—चल चित्र की भाँति यह दृश्य आँखों के सामने घूम जाते हैं।

सत्साहित्य की सृष्टि में हिन्दी के पत्रकारों का हाथ बहुत-कुछ रहेगा। नये लेखकों को वहीं घटा-बढ़ा सकते हैं। किसी जमाने में 'सरस्वती', 'माधुरी' और 'विशाल भारत' से हिन्दी को काफी प्रेरणा मिली थी। 'हंस' ने अपने जीवन के आरम्भकाल से अब तक हिन्दी की काफी सेवा की है। 'वीणा' और 'साहित्य सन्देश' ने भी अच्छा आलोचनात्मक काम किया है। जिस साहित्य के पोषक निष्पक्ष आलोचक और गुण-ग्राहक हैं, उस साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है। 'गुन न हिरानो गुनगाहक हिरानो है।'

२.

एक दृष्टि से हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य में आलोचना का काम पुराने ढर्रे पर चला आ रहा है; यानी बारीकियाँ ढूँढना और

चाल की खाल निकालना। साहित्य समाज का प्राणस्वरूप है, यह मान-कर चलनेवाली आलोचना हिन्दी में नहीं-सी है। जिस प्रकार रीति-काल के कवि अलंकार-विवेचना करते थे, वही आज भी हमारे साहित्य-विद्यालयों में हो रहा है, मानो समाज और साहित्य में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए ही न हों। आज के अंग्रेजी-पढ़े, आलोचक अरस्तू और मैथ्यूआर्नल्ड की दुहाई देते हैं। किन्तु आलोचना लिखते समय भूल जाते हैं कि कला जीवन का चित्रण है। जिन आलोचकों ने पाश्चात्य-पद्धति को अपनाया, वे भी हमें साहित्य की बुनियादों तक न पहुँचा सके। उनका आलोचना-शास्त्र केवल सतह का परिवर्तन मात्र था।

आलोचक का काम गुण-दोष-विवेचन समझा जाता है। वह किसी कविता या कहानी की ख़ूबियाँ हमें समझा दे, बस उसका काम ख़त्म हो गया। वह साहित्य की अन्तरंग समीक्षा कर समाज के आधार स्तम्भों तक नहीं पहुँच पाता। पहले सामन्ती युग में वह अलं-कार गिनता था। आज पूँजीवाद के युग मे वह कल्पना की उड़ान पसन्द करता है।

यदि आलोचक साहित्य और कला की बुनियादों तक पहुँचकर उनकी विवेचना करता है, तो निश्चय ही वह उन्हें आगे बढ़ने में मदद दे सकता है। साहित्य हवा में नहीं तैयार होता, समाज की वास्तविकता और उसकी संस्कृति का वह सच्चा नक्शा है। आज के संक्रान्ति-काल में वह कलाकार उच्च कोटि की रचना नहीं कर सकते, जो समाज की गढ़न से अनभिज्ञ हैं, या उसके प्रति उदासीन हैं। पारखी केवल गढ़न से ही खुश नहीं हो जाता, वह सोने का गुण भी देखता है।

आज हिन्दी आलोचना में कुछ गलतफहमियाँ फैल रही हैं, जिनका स्पष्टीकरण जरूरी है। यह भ्रम अधिकतर आस्करवाइल्ड के स्कूल की देन है और निर्जीव कला के जनक हैं। कुछ फ्रायड, आडलर आदि के विश्लेपण की समूल नकल का परिणाम हैं।

कहा जाता है कि कला युग और समाज के ऊपर कोई अद्भुत

सृष्टि है जिसका मूल्य अमिट ह। यह कला व्यक्ति-विशेप के मन की उपज समझी जाती है, जिसका भौतिक-परिस्थितियो से कोई सम्बन्ध नहीं। कहा जाता है कि कला के आधार जीवन के शाश्वत सत्य हैं जो कि कभी बदलते नहीं। फ्रायड के फैलाये भ्रम अभी हिंदी आलोचना मे एक संकुचित परिधि में सीमित हैं।

यह भ्रम कम अध्ययन और मनन के फल हैं। कला की कसौटियाँ स्थिर करने के लिए समाज-विज्ञान का कुछ परिचय जरूरी है। तभी यह स्पष्ट होगा कि समाज के रूप के अनुसार ही कला का विकास हो सकता है। आज भी हम देख सकते हैं कि रूसी कला जीवन और आशा से ओत-प्रोत है दूसरी ओर अंग्रेजी और फ्रेंच कलाकारो के प्राण छटपटा रहे है। फासिस्त जर्मनी मे कला का अन्त हो चुका था, आर इन परिस्थितियो में उच्च कोटि का कला-निर्माण असम्भव है।

सत्य, शिव और सुन्दर की आराधना को शाश्वत कहा जाता है, यानी जीवन में इनका रूप अपरिवर्तित है। हम जीवन को गतिशील और विकासमान समझते है। जड़, स्थावर नहीं। सत्य और सुन्दर के भी अधिकाधिक विकसित मान हमें समाज और कला में मिलते है। हब्शी के लिए मोटे होठ और चीनियो के लिए छोटे सूजे हुए पैर ही सुन्दरता की पराकाष्ठा थे। प्लेटो और अरस्तू के लिए दास-प्रथा ही शाश्वत सत्य थी और उनकी समस्त समाज-योजनाओं का आधार। जो सत्य आज हमें शाश्वत दीखता है, कल मिथ्या हो जाता है, क्योंकि समाज के बदलते जीवन में हम सत्य का नया तथा विकसित रूप देखते है। सूर्योदय और गुलाब भी हमें सदा सुन्दर नहीं लगते। एक कवि ने लिखा है—

> जब जेब में पैसा होता है, जब पेट में रोटी होती है।
> तब हर एक ज़र्रा हीरा है, तब हर एक शबनम मोती है॥

फ्रॉयड ने मनुष्य के अन्तर्मन का जो विकृत नक्शा खींचा है, वह भी शाश्वत सत्य नहीं, वरन् क्षयग्रस्त विलासी समाज का नक्शा है। फ्रॉयड के अनुसार अधिकतर कला Oedipus Complex की उपज

है, यानी मा के प्रति पुत्र की वासना जो बचपन से ही चली आती है। यह विचार स्वस्थ समाज पर लागू नहीं हो सकते, यह क्षय रोग के कीटाणु हैं।

हम कला को समाज की जीवन-शक्ति समझते हैं, समाज से अलग अन्तरिक्ष की रचना नहीं। जो कला ह्रासमूलक शक्तियों का शिकार बन जाती है वह निर्जीव हो जाती है और सामाजिक प्रगति में सहायता नहीं कर पाती।

आलोचक का लक्ष्य केवल टेकनीक-विवेचना ही नहीं, उसे कला के अन्तस्तल तक पहुँचना चाहिए। इस प्रकार आलोचक केवल मध्यस्थ ही नहीं, वरन् समाज और संस्कृति के विकास का साधन भी बन सकता है। यदि आज हम हिन्दी के आलोचकों की ओर दृष्टि डालें तो कितने इस गम्भीर उत्तरदायित्व की रक्षा कर रहे हैं?

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल आधुनिक हिन्दी आलोचना के मुख्य स्तम्भ थे। उन्होंने प्राचीन आलोचना-शास्त्र और पाश्चात्य कसौटियों को साथ-साथ लेकर हिन्दी साहित्य की छानबीन की और एक स्वतन्त्र आलोचना-शैली का निर्माण किया। शुक्लजी हिन्दी के गम्भीरतम आलोचक थे। टेकनीक के गुण-दोष में उन्होंने सूक्ष्मदर्शिता दिखाई। सूर, तुलसी और जायसी के उत्कृष्ट अध्ययन उन्होंने हिन्दी साहित्य को दिये। शुक्लजी की दृष्टि अतीत की ओर थी। आधुनिक हिन्दी साहित्य के निर्माण में उन्होंने हमारा हाथ नहीं बँटाया, बल्कि विरोध ही किया। आज के साहित्य की ओर जब भी उन्होंने दृष्टि उठाई, वह उन्हें खोटा लगा। यह सच है कि इधर, जब कि आधुनिक साहित्य प्रसव-काल की पीड़ा से निकल चुका था, शुक्लजी की उससे कुछ सहानुभूति हो चली थी, किन्तु यह घटना घट जाने के बाद की बुद्धिमानी थी। शुक्लजी ने हिन्दी आलोचना को गम्भीर रूप दिया और पुराने ढङ्ग की तू तू मैं-मैं से बाहर निकाला, अतः हमें उनका भारी आभार मानना पड़ेगा।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने कर्तव्य में सजग हैं और उनकी

अनुभूतियाँ विस्तृत और व्यापक। हजारीप्रसादजी ने अपने व्यक्तित्व को सर्वाङ्ग बनाने में कुछ उठा नहीं रक्खा है और अपनी ग्रहण करने की क्षमता के कारण आप आगे लीक छोड़कर भी चल सकते हैं। आप कहते हैं—'कालिदास ने अयोध्या की दारुण दीनावस्था दिखाने के बहाने मानो गुप्त सम्राटों के पूर्ववर्त्ती काल के समृद्ध नागरिकों की जो दुर्दशा हुई थी उसी का अत्यन्त हृदय-विदारी चित्र खींचा है। शक्तिशाली राजा के अभाव में नगरियों को असंख्य अट्टालिकाएँ भग्न, जीर्ण और पतित हो चुकी थीं। उनके प्राचीर गिर चुके थे, दिनान्त-कालीन प्रचण्ड आँधी से छिन्न-भिन्न मेघ-पटल की भाँति वे श्रीहीन हो गये थे।' ('रघुवंश') द्विवेदीजी पाठक को उस समस्त संस्कृति का सामन्ती ढाँचा पहचानने मे मदद नहीं देते। उसके प्रति आपको घोर ममता है। हम द्विवेदीजी के कृतज्ञ हैं कि प्राचीन चिन्ता से इतना घनिष्ट संबन्ध होते हुए भी नवीन के प्रति आपमे उपेक्षा-भाव नहीं :

'नवीन चिन्ता जितनी भी कच्ची, जितनी भी अल्पवयस्क और जितनी भी अस्थिर स्वभाववाली क्यों न हो उसमे नवीन प्राण हैं और प्राणदत्ता सबसे बड़ा गुण है।'

श्री शांतिप्रिय द्विवेदी ने आधुनिक साहित्य पर खूब लिखा है। आपकी अनुभूति तरल है, किन्तु उसके पीछे कोई ठोस बौद्धिक तत्त्व नहीं। अपने जीवन मे संघर्ष से विवश आप प्रगतिशील शक्तियों की ओर उन्मुख हैं। टालस्टाय और गांधी का प्रभाव आपके व्यक्तित्व पर इतना गहरा है कि आप जीवन के भौतिक आधार तत्त्वों को मानने में असमर्थ हैं। इसका मतलब यह है कि मनुष्य समाज-निर्माण की भौतिकता से बचकर अध्यात्म की शरण ले, यद्यपि शांतिप्रियजी इतनी दूर नहीं जाते। आप समय के साथ पग मिलाकर चलने की पूरी चेष्टा कर रहे हैं और आज के साहित्य-निर्माण में आपने हाथ बटाया है।

हिंदी आलोचना में प्रगतिशील शक्तियों का अनवरत विरोध श्री इलाचन्द्र जोशी ने किया है। पहले आप पर ऑस्कर वाइल्ड का साया पड़ा और अब आडलर का। आजकल आप बड़े जोर से दुहरा रहे हैं

कि हिंदी के कवि हीन भावना (Inferiority Complex) के शिकार हैं। यदि इस बात में कुछ भी सच है तो हम इतना कहने से ही संतुष्ट नहीं हो सकते। हमें पता लगाना होगा कि किन सामाजिक परिस्थियों में पड़कर हमारे कवि इस हीनता का अनुभव कर रहे हैं। हमें उन परिस्थितियों को बदलना होगा। जोशीजी में अहम् की भावना प्रबल है, आप साहित्य में कोई विरला पथ निकालकर उस पर चलना पसंद करते हैं। यह व्यक्तिवाद भी आज की सामाजिक परिस्थितियों का एक अंग है।

हिंदी आलोचना के क्षेत्र में आज भी कुछ ऐसी शक्तियाँ सतर्क और जागरूक हैं जिनके कारण हम हताश नहीं हो सकते। यह लेखक कला के सामाजिक ह्रास के कारण समझते हैं और उन परिस्थितियों को बदलना चाहते हैं जिनके कारण स्वस्थ कला आज नहीं पनप सकती। भारतीय समाज और कला की प्रगतिशील शक्तियाँ संघटित हो रही हैं और बल पकड़ रही हैं। विदेशी पूँजीवाद से मोर्चा लेकर हमारी सामाजिक चेतना जाग उठी है और उसका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ रहा है।

आलोचना में प्रगतिशील शक्तियों का नेतृत्व श्री शिवदानसिंह चौहान ने किया है। आप यू० पी० प्रगतिशील लेखक संघ के मन्त्री थे और समाज-विज्ञान का आपने गहरा अध्ययन किया है। आप साहित्य-विवेचना में बुनियादी तत्त्वों तक आसानी से पहुँच जाते हैं। आप अनुभूति रखकर भी निर्मम बुद्धिवादी हैं। आपकी परख कठोर अग्नि के समान है जिसमें पड़कर धातु की असलियत का फ़ौरन पता लगता है। बीमारी और व्यक्तिगत उलझनों के कारण परिमाण में अभी चौहान ने अधिक नहीं लिखा, किन्तु जो कुछ भी लिखा है उसमें सचाई के साथ-साथ गहराई है। आपके अनेक निबन्ध 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता', 'छायावादी कविता में असंतोष-भावना' 'पन्त की वर्तमान कविता-धारा', 'भारत की जन-नाट्य-शाला', 'हिन्दी का कथा-साहित्य' आदि हमारे आलोचना साहित्य के

दीपस्तम्भ हैं। इन निबन्धों का संग्रह 'प्रगतिवाद' नाम से निकल गया है।

पंतजी भी 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में वर्ग-संस्कृति के आलोचक के रूप में प्रकट हुए हैं। पंतजी का अध्ययन गहरा और सुलझा हुआ है। उनका बुद्धिवादी दृष्टिकोण उन्हें वर्ग संस्कृति के तत्वों तक पहुँचा देता है। किंतु वे आपको आकर्षित नहीं कर पाते—

'आज सत्य, शिव सुन्दर करता, नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट और संस्कृत लगते, मन को केवल कुत्सित
संस्कृति कला सदाचारों से, भव-मानवता पीड़ित
स्वर्ण पींजड़े में है बन्दी, मानव-आत्मा निश्चित।'

पन्तजी का प्रगतिशील शक्तियों के साथ होना आज की एक स्मरणीय घटना है। इसका हिन्दी साहित्य के निर्माण पर गहरा असर पड़ रहा है।

नरेन्द्र शर्मा आधुनिक हिन्दी कविता का विस्तृत अध्ययन कर रहे हैं। आपके विचारों की रूपरेखा आपके निबन्ध 'हिन्दी कविता के बीस वर्ष' से स्पष्ट भी हो चुकी है। 'प्रवासी के गीत' की भूमिका आज के साहित्य की मार्क्सवादी दृष्टिकोण से आलोचना है। 'कला चिरजीवी' में पुरानी संस्कृति के संकुचित अतएव क्षणभंगुर रूप पर आपने प्रकाश डाला है।

आज के कवि का जीवन असफलताओं से घिरा है। पग-पग पर वह ठोकर खाता है। उसका गीत उसके कण्ठ में घुटकर घिघिया पड़ने लगता है, उसका कातर नाद फैलकर खण्डहरों में गूँज उठता है :

'क्या कङ्कड़ पत्थर चुन लाऊँ?'

नरेन्द्र ने कवि-जीवन के अरमानों और उसकी निराशाओं का तत्व समझ लिया है। इसी लिए वह यह कभी न लिखेंगे :

'जग बदलेगा किन्तु न जीवन'

आज जीवन को बदलने के लिए जग को बदलना आवश्यक हो गया है।

डा० रामविलास शर्मा हिन्दी के प्रतिभासम्पन्न और तेजस्वी आलोचक हैं। आपकी लेखनी में निर्भीकता, स्वाधीनता और बल है। आपका अध्ययन गहरा है। प्रेमचन्द की आपने एक विस्तृत आलोचना लिखी है। इसके अतिरिक्त आपके साहित्य पर बैसवाड़े के किसान की जागरूकता और तत्परता की छाप भी है।

'अज्ञेय'जी ने भी कुछ वर्षों से आलोचना में महत्त्वपूर्ण काम किया है। आपका आलोचना ग्रन्थ 'त्रिशंकु' हाल मे ही प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा आपकी दिल्ली रेडियो से कई मास तक की नई-नई किताबों की आलोचनाएँ भी स्मरणीय हैं।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने हाल मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। पूना साहित्य परिषद् में सभापति के पद से दिये अपने भाषण में आपने प्रगति का पक्ष ग्रहण किया है। साहित्य और समाज मे गति और परिवर्तन आप स्वाभाविक मानते हैं। आप यह भी मानते हैं कि आज की परिस्थितियों में समाजवाद ही प्रगतिशील शक्ति है, किन्तु आप फिर भी पूछते हैं कि प्रगति का पथ समाजवाद का पथ ही क्यों हो? इसका उत्तर तो आप स्वयं ही दे चुके हैं। आज की शक्तियों में समाजवाद की शक्ति ही प्रगतिशील है, अतएव प्रगतिशील कलाकार अथवा आलोचक उस पथ का अनुसरण करेगा। आगे चलकर वाजपेयीजी पूछते हैं कि कुछ दिन बाद समाज का रूप बदलेगा, नये प्रश्न हमारे सामने उठेंगे, तब क्या होगा? उत्तर स्पष्ट है। नई समस्याओं का सुझाव नई संस्कृति को करना होगा। किन्तु यह समस्याएँ भौतिक नहीं, मनोवैज्ञानिक होंगी। अब तक समाज दो वर्गों में विभाजित रहा है: शोषक और शोषित। समाजवाद इस वर्ग-भेद को दूर कर एक वर्गहीन समाज की स्थापना करेगा। इस समाज में मनुष्य का शोषण न होगा और इस प्रकार आदिम युग का अन्त और इतिहास का आरम्भ होगा। नवीन संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य की आर्थिक समस्याएँ सदा के लिए हल हो चुकेंगी।

प्रगतिवाद का स्वर हिन्दी-साहित्य में बल पकड़ रहा है। अनेक

तरुण साहित्यकार इसके प्रभाव में आ रहे हैं। हमे सन्तोष है कि पुराने महारथियों का ध्यान भी इधर आकर्षित हो रहा है। हिन्दी आलोचना को आज छोटी-मोटी खूबियाँ छोड़कर साहित्य के तल तक पैठना होगा, उसके आधारतत्त्वों तक पहुँचना होगा, आगे का रास्ता सुझाना होगा और भविष्य के निर्माण में मदद करनी होगी। जो आलोचक आज भी बाल की खाल निकालने में ही लगे है, समय उनका मुँह न देखेगा और गति रफ्तार से चलता ही जायगा।

रंग-मंच

हिन्दी की अभी तक कोई स्वतन्त्र रंग-मंच-परिपाटी नहीं बनी, जिसके अनुकूल हमारे नाटकों की रचना हो। हमारे साहित्यिक नाटक वाचनालय की शान्ति में ही रुचते हैं। नाटक के नाम से जो रचनाएँ रंग-मंच पर खेली जाती हैं, वे साहित्यिक नहीं होतीं। वे पारसी रंग-मंच की दूषित प्रणाली का अनुकरण करती हैं। हिन्दी की साहित्यिक जनता दिन-प्रति-दिन बढ़ रही है और सफल साहित्यिक नाटकों का अभिनय देखने को उत्सुक है। ऐसी दशा मे हमारे साहित्यकारों का यह कर्तव्य हो जाता है कि रंग-मंच की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए वे नाटक लिखें। हमें हर्ष है कि हमारे तरुण नाट्यकार इधर ध्यान दे रहे हैं।

भारतीय नाटक की प्राचीन परम्परा लुप्तप्राय है। संस्कृत के सुन्दर, सुगठित नाटक तो हमें अब भी पढ़ने को मिलते हैं, किन्तु पुराने नाट्य-गृहों की परम्परा सर्वथा खो चुकी है। संस्कृत के अधिकतर नाटक राजसभाओं मे अभिनय की वस्तु थे। शाकुन्तल, मालती माधव, मुद्रा-राक्षस, मृच्छकटिक आदि राज-सभाओं के नाटक थे। शायद क्षुद्रक, मालव, लिच्छवि, शाक्य आदि गण-राज्यों में जनसाधारण के रंग-मंच की परम्परा रही हो, जिसका अब कोई चिह्न भी अवशिष्ट नहीं।

ग्रीस के नाट्य-गृहों में हजारों दर्शक बैठ सकते थे। वहाँ नाटक

देखना धर्म-कार्य समझा जाता था, क्योंकि नाटक द्वारा वे देवता की अर्चना करते थे। इसी प्रकार शेक्सपियर के समकालीन नाट्य-गृहों में जनता अवाध वेग से उमड़ती थी। भारतीय चित्रकला में हमें यह भावना मिलती है। कहते हैं कि अजन्ता की दीवारों के चित्र बौद्ध भिक्षुओं ने बनाये थे। हमारे नाट्य-गृहों में जो जनता उमड़ती है, वह साहित्यिक नाटक से अभी कितनी दूर है ?

भारतेन्दु आधुनिक हिन्दी रंग-मंच के जनक थे। आपने अनेक नाटक लिखे और भारतेन्दु-नाटक-मंडली ने उनका सफल अभिनय भी किया। इस रंग-मंच ने संस्कृत की परिपाटी को फिर से जीवित किया। 'सत्य हरिश्चन्द्र' हमें संस्कृत के नाटकों का स्मरण दिलाता है। इसका रुख बीते हुए युग की ओर है। 'भारत-दुर्दशा' और 'प्रेम-योगिनी' आदि में आधुनिक समाज का प्रतिविम्ब है। 'चन्द्रावली' वास्तव में काव्य है, जिसका कलेवर मात्र नाटक का रूप लिये है। भारतेन्दु की साधना ने हिन्दी रंग-मंच को जीवन-शक्ति दी, किन्तु फिर भी वह पनप न सका। साहित्य का रंग-मच से यह मिलन क्षणिक ही रहा।

हिन्दी रंग-मंच को जीवित करने का दूसरा प्रयास व्याकुल भारत-नाटक-मंडली ने किया। व्यवसायी मंडलियों में उर्दू का ही बोलबाला था। उनके अभिनेता कभी हिन्दी का व्यवहार भी करते, तो विकृत रूप मे, देश की प्राचीन संस्कृति से इनका कोई सम्पर्क न था। 'व्याकुल' का नाटक 'बुद्धदेव' बहुत लोकप्रिय हुआ। इस नाटक में शुद्ध हिन्दी का व्यवहार हुआ था और इस पर भारतीय सस्कृति की छाप थी। व्याकुल-मंडली के अभिनेता हिन्दी शब्दो का उच्चारण भी शुद्ध करते थे।

इसी समय स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के नाटको का हिन्दी में अनुवाद हुआ और कालेज, यूनिवर्सिटी के छात्रो में इनका खूब प्रचार हुआ। अव्यवसायी मडलियों ने स्व० राय महोदय के 'शाहजहाँ', 'मेवाड़-पतन' आदि नाटकों का वर्षों अभिनय किया। इस प्रकार हमारे बीच शुद्ध अभिनय की एक क्षीण परिपाटी जीवित बनी रही।

पारसी नाटक-मंडलियों का ध्यान भी हिन्दी की ओर फिरा। 'न्यू एलफ्रेड' नाटक-मण्डली के लिए बरेली के पं० राधेश्याम कविरत्न ने 'वीर अभिमन्यु', 'भक्त प्रह्लाद' आदि नाटकों की रचना की। इनकी भाषा हिन्दी अवश्य थी, किन्तु इन नाटकों में साहित्यिकता का अधिक अंश न था। ये पारसी नाट्य-प्रथा के केवल हिन्दी उल्था थे। इन मण्डलियों का अभिनय जीवन-हीन, विकृत, रूढ़ि-ग्रस्त था। पारसी रंग मंच हमें जीवन से दूर किसी मिथ्या-जग में पहुँचाता था। वास्तविकता से यह अभिनय कोसों दूर था।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' हिन्दी रंग-मंच के इतिहास में एक स्मरणीय घटना थी। इस नाटक के अनेक सफल अभिनय साहित्य-समिति ने किये। 'कृष्णार्जुन-युद्ध' में साहित्यिकता के साथ-साथ नाट्य-गुण विशेष मात्रा में मौजूद था। पं० बदरीनाथ भट्ट अधिकतर प्रहसन लिखते थे। आपकी नाटिका 'चुङ्गी की उम्मेदवारी' हास्य में ओत-प्रोत है। हास्यात्मक नाटक का वह प्रखर, निर्मल स्वरूप अभी हिन्दी में नहीं आया, जिसके अभ्यस्त हम शॉ आदि की नाट्यकला से हो गये हैं।

'प्रसाद' के साथ हम हिन्दी नाटक के इतिहास का नया पृष्ठ पलटते हैं। 'प्रसाद' गम्भीर, सुसंस्कृत और चिन्तनशील व्यक्ति थे। आपने गम्भीर, साहित्यिक नाटकों की तन्मयता से रचना की। आपकी ऐतिहासिक खोज सराहनीय थी। किंवदन्तियों पर आप कभी निर्भर न रहते थे। अत: 'नाग-यज्ञ', 'अजातशत्रु', 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त' 'ध्रुव स्वामिनी' आदि आपके नाटक हमारे प्राचीन इतिहास की बड़ी देन हैं। इन नाटकों का अच्छा अभिनय भी हो सकता है, किंतु इनकी क्लिष्ट भाषा से अभिनेता कुछ भय खाते हैं। कम-से-कम विद्यालयों की हिंदी-उर्दू मिश्रित दर्शक-मंडली इस भाषा के लिए तैयार नहीं। एक अनुशासित साहित्यिक जनता ही इन नाटकों के अभिनय में योग दे सकती है। 'प्रसाद' की कृपा से हमारे भंडार में उच्च-कोटि के साहित्यिक नाटक हैं। किंतु कोई विशिष्ट रंग-मंच उनके अनुरूप हमारे पास नहीं।

'कामना', 'एक घूँट' आदि का अभिनय हम अब भी कर सकते हैं, किंतु अभी तक इनका जीवन वाचनालय और क्लास-रूम तक ही सीमित है।

इस कोटि मे कवि श्री पंत का नाटक 'ज्योत्स्ना' भी आता है। उच्च कोटि की पाठ्य-सामग्री तो यह रहा है, किंतु इसके अभिनय का कहीं सफल प्रयास हुआ हो, यह हमें ज्ञात नहीं। इस कार्य को हिन्दी साहित्य-सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पादित कर सकता है। किसी वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर कवि की देख-रेख में इस नाटक का अभिनय हो, तो हिंदी रंग-मंच के विकास में हमें अनन्य सहायता मिले। पंतजी ने इधर अनेक नाटक लिखे हैं। इन पर उदयशंकर के संस्कृति केन्द्र का अवश्य ही शुभ प्रभाव होगा।

हिन्दी में पिछले वर्षों मे नाटक तो खूब लिखे गये हैं, किन्तु उनके अभिनय कम हुए हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द, श्री सुदर्शन, प० गोविन्दवल्लभ पन्त आदि सज्जन नाटककारों के रूप में हमारे सामने आ चुके हैं। तरुण लेखकों में 'उग्र', 'अश्क', प० उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। 'उग्र' का नाटक 'महात्मा ईसा' उनकी गम्भीरतम कृति है और विषय के अनुरूप ही उसकी महत्ता भी है। 'ईसा' का हास्य बहुत निर्मल और मनोरम है।

नवयुग के नाटककारों के लिए हम यह तो अवश्य ही कह सकते हैं कि उनके नाटक अभिनय के लिए लिखे गये हैं, किन्तु हिन्दी का कोई स्वतन्त्र रंग-मंच नहीं, इस कारण अभी तक वे सजीव नहीं हुए। भारत के उन्नतिशील चित्रपट का प्रभाव रंग-मंच पर भी पड़ेगा। विशेषतः 'न्यू थियेटर्स' आदि के यथार्थवादी अभिनय का प्रभाव अवश्य हिंदी के अभिनेताओं पर पड़ेगा। इस प्रकार हिन्दी-नाटक क्रमशः जीवन के निकट आ रहा है। हम इब्सन, शॉ, गॉल्जवर्दी के नाटक पढ़ते हैं। पाश्चात्य चित्रपट की प्रगति देखते हैं। नये आदर्श हमारे सामने हैं। कब तक हम पारसी रग मंच प्रणाली के दास बने रह सकते

हैं ? एक उन्नति का मार्ग रेडियो ने हमारे बीच खोल दिया है। हमे हर्ष है कि कुछ साहित्यिकों के नाटक रेडियो पर अभिनीत हुए हैं।

रंग-मंच का विकास व्यवसायी दल नहीं करेंगे। उसका नेतृत्व साहित्यिक ही ले सकते हैं। छात्र-मंडलियाँ और अन्य व्यवसायी-दल संक्षिप्त नाटक सफलता-पूर्वक खेल सकते है। हमें हर्ष है कि हिन्दी-संसार का ध्यान एकांकी नाटकों की ओर गया है। श्री भुवनेश्वर वर्मा का 'कारवाँ' और राजकुमारजी का संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' हमारे सामने हैं।

कुछ वर्ष पहले श्री जगदीशचन्द्र माथुर के दो अति सुन्दर नाटक 'रूपाभ' में निकले थे, 'भोर का तारा' तथा 'जय और पराजय।' इन नाटकों का प्रयोग और आगरा में बहुत सफल अभिनय हुआ। इस श्रेणी के नाटकों की हिन्दी रंग-मंच के विकास के लिए बड़ी आवश्यकता है।

हिन्दी रंग-मंच के भविष्य की कुछ हम कल्पना कर सकते हैं। भारतीय जनता की अनुभूतियाँ और आशाएँ इस सजीव रंग मंच में केन्द्रित होंगी—भारतीय जीवन के वे निकट होंगी। उसकी भाषा देश के प्रगतिशील जन-समाज को सहज बोधगम्य होगी। उसकी वाणी में जीवन के प्रति आलोचना-भाव होगा। केवल पुराने बेलबूटों की रंग-मच नक़ल न करेगा। प्राणभार से आकुल इस रंग-मंच की लोक-प्रियता का अनुमान हम कठिनता से कर सकते हैं। यही रंग-मंच पेरीक्लीज के ग्रीस और शेक्सपियर के इग्लैण्ड में रचित नाट्य-साहित्य की समता कर सकेगा और कालिदास की मर्यादा का उत्तराधिकारी बनेगा।

किस प्रकार हम उस रंग-मंच की सृष्टि में मदद कर सकते हैं? साहित्यिकों की परिषद् इधर ध्यान दे सकती है। हम एक नाट्य-समिति का सूत्रपात करें जिसमें शिशिर भादुड़ी, उदयशकर आदि का योग माँगा जाय; धन एकत्र कर एक अभिनय-भवन निर्माण किया जाय और समय-समय पर अभिनय योग्य नाटक आमन्त्रित किये जायँ। क्या यह बात कल्पनातीत है? हमें ऐसे रंग-मंच की जरूरत

है जो हमारे जन-समाज का प्रतिनिधि बन सके, जिसमें हमारी आशा-अभिलाषाएँ प्रतिबिम्बित हों।

भारतीय जन नाट्यशाला ने इस प्रयास को सफलतापूर्वक उठाया है। हिन्दी प्रदेश में उसकी एक सजीव शाखा बनाने की बड़ी आवश्यकता है।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला

(१)

स्व० प्रेमचन्द ने जब हिन्दी साहित्य मे पैर रखा, वह उसके जाग्रति का युग था। भारतेन्दु ने जब लिखना शुरू किया था, उस समय साहित्य और कला का पारखी केवल जराजीर्ण सामन्ती समाज था, मध्य वर्ग का जन्म ही हो रहा था। प्रेमचन्द को समझनेवाली मध्यवर्ग की जनता काफी तादाद में तैयार हो चुकी थी। इसका कारण भारत में पूँजीवाद का आगमन था। इस जाग्रति के युग में हमारा कथा-साहित्य किस्सा तोता-मैना और वैताल पचीसी, चन्द्रकान्ता, भूतनाथ और मि० ब्लैक के जासूसी कर्तब छोड़ 'सेवा सदन' और 'प्रेमाश्रम' की ओर मुड़ा।

अब भारत में पूँजीवाद संक्रान्तिकाल मे पहुँचा है और उसका निर्मित समाज-विधान शिथिल पड़ रहा है; किन्तु एक नई शक्ति भी हमारे बीच उठ रही है जो समाज का कायाकल्प करके हमे फिर उन्नति के पथ पर अग्रसर करेगी। इस उन्नति के पथ में अनेक शक्तियाँ बाधा डाल रही हैं, किन्तु उनकी पराजय निश्चित है।

हमारे इतिहास के इस लम्बे युग का पूरा विवरण प्रेमचन्द के साहित्य में मिलेगा। साम्राज्यशाही के कारण भारतीय पूँजीवाद के विकास में बाधा पड़ती रही, किन्तु गाँव में जर्जर सामन्तशाही को पूरी सहायता मिली। नगर में उन्नत मध्यमवर्ग और श्रमजीवियों ने

और गाँव में निम्नश्रेणियों ने स्वाधीनता का झण्डा ऊँचा किया, किन्तु अभी उस महायज्ञ मे पूर्णाहुति नहीं पड़ी है।

प्रेमचन्द का साहित्य असल में भारतीय गाँव का आधुनिक इतिहास है। नगर से उन्हें कभी वास्तविक सहानुभूति नहीं हुई। गान्धीवाद के प्रभाव में वह गाँव का सरल, निर्मल जीवन अपना ध्येय मानते रहे। उनकी आशाएँ पाँडेपुर पर केन्द्रित थीं, बनारस पर नहीं। भविष्य तो नगर के साथ है, किन्तु भविष्य का नगर 'लाभ' के बल पर अवलम्बित न होगा।

प्रेमचन्द की साहित्यिक दुनिया इसी विशाल भारतीय जनसमाज का प्रतिबिम्ब है। इस साहित्य में हमें उसका विस्तृत वर्णन मिलेगा। उसके संघर्ष, विजय, पराभव का विशद चित्रण।

प्रेमचन्द की दुनिया एक खँडहर-मात्र है। चतुर्दिक् यहाँ दैन्य, निराशा, दारिद्र्य का चित्र है, किन्तु नव-जीवन का सन्देश भी इस समाज की रग-रग और कोपलों में पहुँच चुका है। प्रकृति का यहाँ अद्भुत साज-शृंगार है; फाग, डफ, अबीर—और आम और महुए के पेड़ों पर कोयल की तान।

यह दुनिया अनेक खिलाड़ियों की रंगभूमि है। पल भर अपना पार्ट अदा कर वे यहाँ से चले जाते हैं। एक मेले की पूरी भीड़ यहाँ मिलेगी, धक्का-मुक्की और तिल रखने को न ठौर। किसान, अहीर, पासी, अन्धे भिखारी, लोभी वणिक, व्यवसायी, पूँजीपति, जमींदार, रईस, ओहदेदार, पण्डे, मुल्ला, वृद्ध, आबाल, वनिता सभी इस भीड़ में मौजूद हैं। यह विश्वामित्र की सृष्टि से अधिक सफल मानव की सृष्टि है और इसमें न्याय, विवेक, त्याग और आदर्श के हाथ अन्तिम विजय निश्चित है।

(२)

प्रेमचन्द का साहित्य परिमाण में काफ़ी है। सेवा सदन, प्रेमाश्रम, वरदान, रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, निर्मला, कर्मभूमि, गबन,

गोदान, इसके अतिरिक्त दो नाटक और अनेक कहानियाँ। इस साहित्य में दिव्य चक्षुओं से देखा हुआ जीवन का एक बृहत् टुकड़ा मिलेगा, अनेक आकर्षक व्यक्ति, साथ ही कहानी का आनन्द और जीवन का तथ्य।

'सेवा-सदन' में मध्य-वर्ग के पतन का एक चित्र है, जिसे आगे भी बार-बार प्रेमचन्द ने दुहराया है। आमदनी कम, खर्च अधिक, ऊपर सफेदपोशी का ढोंग। यह विडम्बना एक व्यक्ति अथवा परिवार की नहीं, पूरे समाज की है। कम वेतनभोगी स्कूल मास्टर का संकुचित जीवन, विलास की लालसा, समाज की दुर्व्यवस्था, पतिता स्त्रियों का पथ—यह वीभत्स चित्र कलाकार ने खींचा। यह उसकी पहली उड़ान थी, किन्तु पहली बार ही व्योम-विहारिणी बनी। मध्यवर्ग और नगर-जीवन की असफलताओं का इतना विस्तृत विवरण प्रेमचन्द ने फिर नहीं किया। फिर वह गाँव की ओर झुक गये। यौवन में दाल की मंडी का चक्कर लगाकर उनकी कल्पना ने 'सेवा-सदन' और 'प्रेमाश्रम' की शरण ली।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द गाँव की ओर मुड़े। यह जर्जर सामंतशाही का पहला विस्तृत चित्र इन्होंने खींचा। जमींदारी प्रथा का विषाक्त वातावरण, कुलीनता की लाज, स्वार्थपरता, त्याग, किसान-समाज की दीनता, अक्षमता, किन्तु बढ़ती संगठित शक्ति। 'गोदान' में इन्होंने इस चित्र को दोहराया, बड़े रस और अलंकार-परिपूर्ण भाषा और भावुकता से। किन्तु इस बार जमींदार के हृदय-परिवर्तन की आशा प्रेमचन्द छोड़ चुके थे।

'रंगभूमि' भारतीय समाज का एक व्यापक विशाल चित्र है। रंगभूमि रईसों और पंडों का प्रिय काशीधाम और पास का गाँव पाँडेपुर है। यह गाँव स्व० प्रेमचन्दजी का गाँव है और सूरदास का मॉडल यहाँ उन्हें एक अंधा भिखारी मिला था। इस कथा के विशाल चित्रपट पर कलाकार ने अपनी तूलिका से सभी तबकों का चित्रण किया, हिंदू रईस, ईसाई वणिक, मुसलमान, कुलीन, गिरती दशा में

अंग्रेज अफ़सर, अहलकार, स्वयंसेवक, राजघराने, रियासतों की दलित प्रजा, रूढ़ि का जकड़ा ग्रामीण समाज, और कथा का सरताज अंधा फकीर सूरदास। घूम-फिरकर कथा पाँडेपुर में ही केन्द्रित होती है। कारण है सिगरेट की फैक्टरी जिसके खुलने से गाँव में अनेक पातक फैलते हैं, अत्याचार होते हैं और अंत मे जाग्रति होती है।

'कायाकल्प' मे प्रेमचन्द कुछ अध्यात्म की ओर ढुलके। यह प्रवृत्ति उनके साहित्य में मदा रही है। उनकी कहानी 'मूँठ' इसका एक उदाहरण है। पार्थिव जग में जो हम चर्म-चक्षुओं से देखते हैं, उसके पार कुछ है—यह धारणा बढ़कर 'कायाकल्प' मे कथा-वस्तु का रूप विकृत करती है। इस कारण 'कायाकल्प' केवल सामाजिक कथा नहीं रही। वह व्यक्ति के जन्म-जन्मान्तर, योगाभ्यास, कायाकल्प आदि पचड़ों में पड़ कुछ राइडर हैगर्ड (Rider Haggard) के शी (She) का आकार-प्रकार ले बैठी है। साथ-ही-साथ उसमे पुराने कुलीनों के प्रति बड़ा मधुर व्यंग्य भी है—मुशी वज्रधर के चित्रण में।

'कर्मभूमि' एक सार्वजनिक आंदोलन का अध्ययन है। किस प्रकार जनता का वल चींटी के आकार मे क्रमशः हाथी वन जाता है इसका वर्णन इस कथा में है।

'निर्मला' वृद्ध-विवाह का चित्र है। एक पूरा परिवार इसके कारण विगड़ जाता है। यहाँ विमाता का एक कुशल मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी है।

'ग़बन' हिन्दू गृह कलह, हिन्दू नारी की आभूषण-लालसा और निम्न-मध्यवर्ग की विडम्बना और पतन का शक्तिशाली चित्र है। 'ग़बन' हिन्दू परिवार के कुण्ठित जीवन का गम्भीर खाका है। इस उपन्यास में हमें विशाल कलकत्ता के नगर-जीवन की भी झाँकी मिलती है।

'गो-दान' में प्रेमचंद फिर गाँव की ओर मुड़े, नूतन उल्लास और रस लेकर। 'गोदान' वसन्त के छाया-पट पर वनाया गया झिलमिल चित्र है। उनकी भाषा यौवन-माधुरी मे छलकी पड़ती है। किन्तु गाँव

की दुर्दशा पर उनके आँसू भी निकले पड़ते हैं। इस भयानक संघर्ष और शोषण का उनकी कुपित, कुण्ठित आत्मा सामूहिक बल के अतिरिक्त कोई प्रतीकार नहीं देखती और 'गोदान' एक प्रकार से बिना अंत की कहानी है। होरी के चित्रण में कुशल कलाकार के हाथों में वही पुरानी कारीगरी, प्रौढता और सफाई है।

(३)

इस कथा-प्रवाह मे कलाकार के अनेक मन्सूबे, खिलवाड़, अद्वितीय कौशल, चिर-संचित यत्न लीन हैं। उनकी ओर हमें एक विहंगम दृष्टि डालना चाहिए।

प्रेमचंद हिन्दी के तपस्वी कलाकार थे। सामाजिक क्रांति की भावना मे उनकी रचना ओत-प्रोत है। स्वयं अपने जीवन में वह सक्रिय क्रांतिकारी थे। इन्होंने आदर्श के लिए अपने को मिटा दिया। किन्तु उनका सबसे महान् क्रियात्मक प्रयोग उनकी रचना है।

संगठित सामूहिक शक्ति क्रांति का मार्ग है, यह हम निरन्तर उनकी रचनाओं में देखते हैं। हमारे दलित वर्ग ज़रा से नेतृत्व की आड़ पाकर सगठित हो विजय के पथ पर बढ़ सकते हैं, यह हम 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि' और 'कायाकल्प' आदि कथाओं में देखते हैं।

इस क्रान्ति का क्या रूप प्रेमचन्द देखते थे ? 'ऐसी क्रान्ति जो सर्वव्यापक हो, जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों का, परिपाटियों का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्त्तक हो, एक नई सृष्टि खड़ी कर दे।' (कर्मभूमि) हमारे दलित वर्ग के त्राण का सन्देश इस क्रान्ति में है, गाँव के दीन, दुखी, शोपित श्रेणियों का, विशेपकर किसान का। युग-युग की संचित निरंकुशता से विकृत ज़मींदारी प्रथा, साथ ही पुलिस आदि का रोग यह क्रान्ति समाप्त कर देगी। इस क्रान्ति की लहर दूर-दूर तक फैलकर समाज की मलिनता धो देगी। उदाहरण के लिए धर्म का ढोंग लीजिए :

'मि० जॉन सेवक क्या तुम समझते हो कि मैं और मुझ-जैसे और

हजारों आदमी, जो नित्य गिरजे जाते हैं, भजन गाते हैं, आँखें बन्द करके ईश-प्रार्थना करते हैं, धर्मानुराग में डूबे हुए हैं? कदापि नहीं।...धर्म केवल स्वार्थ-संघटन है।' (रंगभूमि) अथवा, जेल-शासन लीजिए :

'भोजन ऐसा मिलता था, जिसे शायद कुत्ते भी सूँघकर छोड़ देते, वस्त्र ऐसे जिन्हें कोई भिखारी भी पैरों से ठुकरा देता; और परिश्रम इतना करना पड़ता, जितना बैल भी न कर सके। जेल शासन का विभाग नहीं, पाशविक व्यवसाय है, आदमियों से जबरदस्ती काम लेने का बहाना, अत्याचार का निष्कण्टक साधन।' (कायाकल्प)

इस प्रकार सामाजिक अन्धकार को कुरेदती कलाकार की अन्तर्दृष्टि चारों ओर पड़ी है, और जहाँ भी पहुँची है, दिव्य आलोक करके लौटी है।

भावना इस कलाकार की अन्तर्ज्योति का साधन है। इस भावना में देह, अदेह, जन, मग, पशु रँग जाते हैं और नवीन रूप में हमारे सामने आते हैं। इस व्यापक भावना के कारण ही प्रेमचन्द की तुलना गोर्की से की गई है। प्रेमचन्द बुद्धिवादी थे, किन्तु अतिरञ्जित भावना ने उन्हें आदर्शवादी बनाया था और उनके बुद्धिवाद के पीछे यह प्रेरणा थी।

प्रेमचन्द का एक प्रबल अस्त्र तीखे छुरे-सा उनका व्यंग्य है। क्रोध से क्षुब्ध जब उनकी कल्पना उग्र रूप ग्रहण नहीं करती, तब वे व्यंग्य का आश्रय लेते हैं। पंडों के वर्णन में उनका व्यंग्य उपहास से भर जाता है। अमीरी के चोंचलों का वर्णन वह मीठे और कोमल विनोद से करते हैं। आप कहते हैं : 'तोंद के बगैर पण्डित कुछ जँचता नहीं। लोग यही समझते हैं कि इनको तर माल नहीं मिलते, तभी तो ताँत हो रहे हैं। तोंदल आदमी की शान ही और होती है, चाहे पण्डित बने, चाहे सेठ, चाहे तहसीलदार ही क्यों न बन जाय।' (कायाकल्प)

प्रेमचन्द जीवन के किसी भी अंग का चित्र बड़ी कुशलता और सुघराई से खींचते थे। यहीं प्रेमचन्द कलाकार की सबसे बड़ी विजय

थी, कलम उठाया और नक्शा खींचना शुरू किया। उनके हाथ में गजब की सफाई थी। इस चित्रांकन में वह तन्मय, आत्म-विस्मृत हो जाते थे। कभी-कभी तो रंग जरूरत से ज्यादा गाढ़ा हो जाता था। सूरदास को लीजिए, एक अंधे भिखारी का वर्णन कर रहे हैं; उसमें इतने तन्मय हुए कि अन्धा भिखारी गाड़ी के पीछे मीलों दौड़ता चला जाता है।

इस महान चित्रशाला में हमें जीवन के सभी चित्र मिलेंगे। किन्तु एक चित्र उन्होंने फिर-फिर दुहराया है, जर्जर भारतीय सामन्तशाही का दृश्य, कुण्ठित किसान और संकट में पड़ी जमींदारी-प्रथा। भारतीय गाँव उनकी रंगभूमि है और किसान उनका नायक। उनकी सम्पूर्ण आशाएँ यहाँ केन्द्रित हैं। 'शहर अमीरों के रहने और क्रय-विक्रय का स्थान है। उसके बाहर की भूमि उनके मनोरंजन और विनोद की जगह है। उसके मध्य भाग में उनके लडकों की पाठशालाएँ और उनके मुकदमेबाजी के अखाड़े होते हैं, जहाँ न्याय के बहाने गरीबों का गला घोंटा जाता है। शहर के आस-पास गरीबों की बस्तियाँ होती हैं। ..' (रंगभूमि) यह शहर के प्रति उनका रुख है।

प्रेमचन्द की कथाओं में दृश्य-नाट्य बहुत है। एक एक घटना का वह तल्लीनता से वर्णन करते हैं। भारतीय रंग-मंच के उत्थान-काल में वह नाटककार हुए होते। जो दृश्य उनकी लेखनी वर्णन करती है, उसे नेत्र मानो सजीव देखते हों, यह उनकी कला का विशेष चमत्कार है। इस नाट्य-गुण के कारण उनकी कथा की गति में बड़ी तरलता, लचक और आकर्षण है। एक उदाहरण लीजिए :

'निर्मला चटपट बाहर निकली। मुन्शीजी उसके हाथ धुलाने लगे। मंगला चारपाई बिछाने लगी। मनोरमा बरोठे में आकर रुक गई। इतना अँधेरा था कि वह आगे क़दम न रख सकी। मरदाने कमरे में एक दीवारगीर जल रही थी। झिनकू उतावली में उसे उतारने लगे तो वह जमीनपर गिर पडी। यहाँ भी अँधेरा हो गया। मुंशीजी हाथ में

कुप्पी लेकर द्वार की ओर चले तो चारपाई की ठोकर लगी। कुप्पी हाथ से छूट पड़ी। आशा का दीपक भी बुझ गया।' (कायाकल्प)

प्रेमचन्दजी के कथानक विशेष मनोरंजक होते हैं। पाठक को बरबस बाँध लेते है। खाना-पीना बिसर जाता है। तम्बाकू के बोरों के पीछे छिपकर पढ़े गये तिलस्माती उपन्यास आखिर काम आये! घटना-प्रवाह के उतार-चढ़ाव में प्रेमचन्द सिद्धहस्त थे। 'रङ्गभूमि' उनका विशालकाय उपन्यास एक साँस में नहीं, तो दो में पढ़ा जा सकता है।

उनकी कथा-वस्तु की हलचल समुद्र की तरंगों के सदृश है। घटना आगे बढ़ती है, तूल पकड़ती है। फिर पीछे हट जाती है। कथानक में यह कशमकश अन्त तक जारी रहती है। टेकनीक वही है जो 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' अथवा 'ईश्वरीय न्याय' आदि गल्पों में इतनी सफल है। कथानक में शक्ति के साथ-साथ लचक रहती है, जैसे किसी लौह-शलाका में।

चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द सिद्धहस्त थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक अमर पात्र दिये हैं। छोटे-बड़े पात्र तो उनकी कथाओं में अगणित भरे पड़े हैं, किंतु इनमें कुछ हमारी जीवन-लीला के चिरसंगी बन गये है। सूरदास, विनय, अमरकान्त अथवा होरी इतिहास के अमर पात्रों से कम नहीं। इसी प्रकार स्त्रियों में सुमन अथवा सोफी को समझना चाहिए।

प्रेमचन्द को मनुष्य-स्वभाव का अपरिमित ज्ञान था। बालक, बूढ़े, युवा, स्त्री, पुरुष सभी के स्वभाव की उन्होंने विशद व्याख्या की है। प्रेमचन्द आदर्शवादी थे। मनुष्य का उनके मन में अपार आदर था। कहते हैं, मनुष्य अपने से ही दूसरों को भी परखता है। प्रेमचन्द स्वयं विनोदी थे, यद्यपि उनके आदर्श का झंडा कभी नीचा नहीं हुआ। उनकी खुलकर हँसने की आदत अब भी उनके मित्रों को याद है। यह विनोद-शीलता और आदर्शवाद उनके चरित्र चित्रण में भी मौजूद हैं। वह मनुष्य स्वभाव का ऊँच-नीच पहचानते थे। वह जानते थे कि ऊँचे से-ऊँचे भी नीचे ढुलक पड़ते हैं और नीचे-से-नीचे भी पश्चात्ताप

की आग में जलकर ऊपर उठने की क्षमता रखते हैं। सूरदास और होरी के स्वभाव में भी दुर्बलताएँ हैं, और काले खाँ सरीखे चोर डाकुओं के मनों में उच्च भावनाएँ। इस उदारता-मिश्रित स्वाभाविकता से प्रेमचन्द के पात्रों की गढ़न हुई है।

यह चरित्र-निर्माण ही उनके कथानक को आगे बढ़ाता है। कथानक का स्रोत प्रेमचन्द के लग में मनुष्य का चरित्र है, कोई दैवी अदृश्य शक्ति नहीं। चरित्र-निर्माण और घटना-जाल प्रेमचन्द की कला में एक अन्तरंग बन्धन में परस्पर बँधे हैं। दोनों मिलकर जीवन के सदृश ही विचित्र नक्काशी पेश करते हैं।

मनोविज्ञान की ठोस भूमि पर निर्मित यह कलाकार का चरित्र-जग प्रभावोत्पादक है। सूरदास के मन में भी एकाध बार प्रभुत्व की भावना उठती है। इन्दु के मन में सोफी के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाती है। अहल्या विलास की लालसा में उलझ चक्रधर को तज देती है। किन्तु मनुष्य का स्वभाव ही है गिर-गिरकर उठना और आगे बढ़ना! बीच-बीच में प्रेमचन्द मनुष्य-स्वभाव की विवेचना भी करते हैं :

'चञ्चल-प्रकृति बालकों के लिए अन्धे विनोद की वस्तु हुआ करते हैं। सूरदास को उनकी निर्दय बाल-क्रीड़ाओं से इतना कष्ट होता था कि वह मुँह-अँधेरे घर से निकल पड़ता और चिराग जलने के बाद लौटता। जिस दिन उसे जाने में देर होती, उस दिन विपत्ति में पड़ जाता था। सड़क पर, राहगीरों के सामने, उसे कोई शंका न होती थी; किन्तु बस्ती की गलियों में पग-पग पर किसी दुर्घटना की शंका बनी रहती थी। कोई उसकी लाठी छीनकर भागता; कोई कहता—'सूरदास, सामने गड्ढा है, बाईं तरफ हो जाओ।' सूरदास बाएँ घूमता, तो गड्ढे में गिर पड़ता।...' (रंगभूमि)

प्रेमचन्द की भाषा ठेठ हिन्दुस्तानी है, सीधी-सादी किन्तु मँजी, प्रौढ़, परिष्कृत; संस्कृत-पदावली से शुभ्र और उर्दू से चंचल। जो आलोचक कहते हैं कि हिन्दुस्तानी में ऊँचे भावों की रक्षा नहीं हो सकती, उनके सामने प्रेमचन्द का उदाहरण है :

'सकीना जैसे घबरा गई। जहाँ उसने एक चुटकी आटे का सवाल किया था, वहाँ दाता ने ज्योनार का एक भरा थाल लेकर उसके सामने रख दिया। उसके छोटे-से पात्र मे इतनी जगह कहाँ? उसकी समझ में नहीं आता कि इस विभूति को कैसे समेटे। अंचल और दामन सब कुछ भर जाने पर भी तो वह उसे समेट न सकेगी।' (कर्मभूमि)

यह भाषा तीखी, पैनी, मर्मस्थल पर आघात करनेवाली है। चुस्त, मुहावरेदार और अलङ्कारमयी भी है। उपमा इसकी विशेषता है। जन-साधारण के जीवन से यह अपने शब्द-चित्र बनाती है : 'मुंशी वज्रधर उन रेल के मुसाफिरों मे थे जो पहले तो गाड़ी में खड़े होने की जगह माँगते हैं, फिर बैठने की फिक्र करने लगते हैं और अन्त मे सोने की तैयारी कर देते हैं।' (कायाकल्प)

विनोद इस भाषा से छलका पड़ता है : 'संसार मे कपड़े से ज्यादा बेवफ़ा और कोई वस्तु नहीं होती। हमारा घर बचपन से बुढ़ापे तक हरएक अवस्था में हमारा है। वस्त्र हमारा होते हुए भी हमारा नहीं होता। आज जो वस्त्र हमारा है वह कल हमारा न रहेगा। उसे हमारे सुख-दुःख की जरा भी चिन्ता नहीं होती, फौरन बेवफाई कर जाता है। हम जरा बीमार हो जायँ, किसी स्थान का जलवायु जरा हमारे अनुकूल हो जाय, बस हमारे प्यारे वस्त्र जिनके लिए हमने दर्जी की दूकान की खाक छान डाली थी, हमारा साथ छोड़ देते हैं।' (कायाकल्प)

वह भाषा 'गोदान' में परम रसवन्ती, अलङ्कार-बोझिल, कवितामयी हो गई है। इसके तरल प्रवाह मे कथानक और कथोपकथन मंजुल गति से बहे हैं। पात्रों का सजीव वार्तालाप प्रेमचन्द कथाकार का निजी गुण है। यह सजीवता कुछ तो भाषा के कारण है, कुछ उनके गहरे अनुभव पर अवलम्बित। जो बातचीत हम प्रेमचन्द के उपन्यासों में सुनते हैं, वह जीवन में अपने चारों ओर सुन सकते हैं।

इसी कारण हम इनके उपन्यास-संसार को भारतीय जीवन का एक अंश। कह सकते हैं।

(४)

प्रेमचन्द की टेकनीक कितनी सफल और परिष्कृत है, इसका प्रमाण 'कायाकल्प' है। टेकनीक की कुशलता उपन्यास का आकर्षण बनाये रखती है। कथा-वस्तु की एक भारी भूल ने 'कायाकल्प' को सामाजिक उपन्यास की श्रेणी से निकालकर अध्यात्म के क्षेत्र में पहुँचा दिया। प्रेमचन्द की विचार-धारा में सदैव से अद्भुत, अदृश्य जग के प्रति ऐसी भावना की एक तरंग थी। 'रंगभूमि' में एक भीलनी ने विनय को एक बूटी दी जिसके बल से सोफी के मन में वासना जग उठी। ऐसी ही कुछ विचित्र उनकी कहानी 'मूँठ' है। 'प्रेमाश्रम' में एक विलासी रईस योगबल से अपने शरीर का विष बाहर निकाल देता है।

प्रेमचन्द भावुक थे। कोई वैज्ञानिक बुद्धिवाद उनकी कला के पीछे नहीं। इस कारण नवीन समाज का विधान भी उनकी दृष्टि में धुँधला-सा रहा। क्रान्ति के बाद गाँव में स्वर्ण युग की सरलता और निष्कपटता का फिर राज्य होगा,—ऐसा शायद कुछ उनका स्वप्न था। यह कहिये कि गांधीजी का रामराज फिर लौटेगा। यह वैज्ञानिक मनोवृत्ति नहीं। सरिता-जल के समान मनुष्य का सामाजिक जीवन भी आगे ही बढ़ता है, पीछे नहीं लौटता। हम मनुष्य का भविष्य सुविशाल निस्पृह नगरों में देखते हैं, जिनकी जीवन-प्रेरणा लाभ नहीं; सामाजिक उपयोग होता।

प्रेमचन्द का कथानक घटना-बाहुल्य से दबा रहता है। उपन्यास की नवीन टेकनीक के अनुसार छोटी-छोटी घटनाएँ कथानक को आगे बढ़ाती हैं। गबन, गृह-त्याग, मृत्यु, लम्बी-लम्बी यात्राएँ—इनकी प्रेमचन्द के वस्तु-भाग में भरमार रहती है। 'निर्मला' में लगभग सभी पात्र मृत्यु के घाट उतार दिये गये हैं। 'रंगभूमि' का कथानक विशेष चंचल है। इसका कारण हम यह कह सकते हैं कि आज भारतीय जन-समाज का जीवन भी बहुत क्षुब्ध, आतुर और गतिशील है।

एक आरोप हमारा यह है कि कहीं-कहीं प्रेमचन्द अस्वाभाविक हो जाते हैं। किसी घटना को तूल देते-देते वह उचित-अनुचित भल

जाते हैं। अन्धा सूरदास गाड़ियों के पीछे मील-मील भर कैसे दौड़ सकता है? सोफिया मि० क्लार्क के साथ अकेले राजस्थान में कैसे घूमी, यहाँ तक कि महाराज और दीवान भी उसे मिसेज़ क्लार्क समझते रहे? यह किस समाज की प्रथा में संभव है? 'कायाकल्प' में मरणासन्न मनोरमा चक्रधर के आते ही बच्चे को लेकर चारों ओर दौड़ने लगी! क्या यह कथाकार के अधिकार का दुरुपयोग नहीं? 'कर्मभूमि' में भद्र महिला सकीना अमरकान्त से दूसरी ही भेंट में घुल-मिलकर प्रेम की बातें करने लगी।

प्रेमचन्द के कुछ पात्र भी व्यक्ति की अपेक्षा 'टाइप' बन जाते हैं, धूर्त, मक्कार अथवा सन्त। ऐसा कभी-कभी ही हुआ है। 'रंगभूमि' में कर्मनिष्ठ, धर्म-भीरु ताहिरअली गबन कर बैठते हैं; किन्तु माहिरअली अथवा उनकी माताएँ बिल्कुल नहीं झुकतीं। मिसेज़ जॉन सेवक के हृदय से मातृ-भाव विलीन हो गया है। उनका चरित्र जड़ है, विकासमान नहीं। इसके विपरीत हम उनके अनेक पात्रों को गतिशील और चलमान देखते हैं। यह मनुष्य का स्वभाव है। वह एक जगह स्थिर नहीं रहता।

(५)

एक पल प्रेमचन्द की तुलना साहित्य के अन्य उपन्यासकारों से करें।

प्रेमचन्द हमे सहज ही 'डिकेंस' का स्मरण दिलाते हैं, वही घटना-बाहुल्य, पात्रों की भीड़-भाड़ और सामाजिक परिवर्तन की लगन। 'डिकेंस' भी निम्न वर्गों का चित्रण करता है, किन्तु वह नगर-जीवन का चित्रकार है और बहुधा उसके चरित्र विकृत, अस्वाभाविक हो गये हैं। जैसे उसने दुर्बीन के गलत सिरे से जीवन देखा हो! 'डिकेंस' को लन्दन का चित्रकार कहा गया है। प्रेमचन्द शहर से तने रहते थे।

गोर्की से भी प्रेमचन्द की तुलना एक हद तक उपयुक्त है। दोनों ही क्रान्ति के समर्थक और दलित वर्गों के अगुआ थे। गोर्की के जगत् में पात्रों की यह भीड़-भाड़ नहीं। यदि प्रेमचन्द किसान-जीवन के

कलाकार हैं, तो गोर्की मजदूरों का है। फैक्टरी, बाजार-हाटों की हल-चल, और क्रान्ति की अवाध गति—ये गोर्की की कथा 'माँ' के अपने गुण हैं। 'कर्मभूमि' में कथानक का विकास 'माँ' के ही सदृश हुआ है।

गॉल्जवर्दी ने भी अपने समाज का विस्तृत इतिहास लिखा है, किन्तु वह उच्च-मध्यवर्ग के प्राणी थे। इसी समाज में उनका जीवन केन्द्रित था। निम्न वर्गों की ओर भी वह झुके हैं, लेकिन अनुभूति के वल, अनुभव के नहीं। पशुओं की मनोवृत्ति वह भी प्रेमचन्द के समान समझते हैं; किंतु उनका स्नेही पशु घोड़ा या कुत्ता है, प्रेमचन्द का वैल। यह भेद उनकी कला की नींव तक हमें पहुँचाता है। घोड़ा और कुत्ता विलास और मनोरंजन का साधन है, वैल रोजी का।

अपने देश में रवि वावू और शरद् वावू से उनकी तुलना हम कर सकते हैं।

रवि वावू के कथा-भाग में रेशम के तारों-सा कोमल रईसी या मध्य-वर्ग का जीवन है। उनकी भाषा-माधुरी, चतुर शब्द-विन्यास, काव्यमय जीवन-झाँकी हमें एक शान्त, स्निग्ध, वातावरण में पहुँचा देते हैं, जहाँ जीवन की विषमता और कठोरता विकराल रूप से हमारे सामने नहीं आती। भावनाओं और सौन्दर्य के जग में कवि की प्रेरणा विचरती है।

शरत् वावू हिन्दू भद्र-समाज के कठोर आलोचक हैं, उसकी दहेज प्रथा के, ढकोसलों और दलवंदियों के। 'पल्ली समाज', 'अरक्षणीया' आदि हमारे समाज के वीभत्स चित्र हैं। शरत् वावू के पात्र वहुत मर्म-स्पर्शी होते हैं। वह हमारे हृदय में वेहद उथल-पुथल मचा देते हैं।

प्रेमचन्द की कला में न तो रवि वावू का काव्य-रस है, न शरत् वावू का मर्मस्पर्शी चरित्र-चित्रण। किन्तु आपने अपनी कला में भारतीय जीवन के उस विशाल, विस्तृत स्तर को छुआ है, जो अब तक अदृश्य और अछूता था। आपने भारत के मूक जन-समाज को वाणी दी है और अभूतपूर्व साहित्यिक जीवन। यही आपकी वड़ी

विभूति है। इस दृष्टिकोण से प्रेमचन्द कलाकार रवि बाबू और शरत बाबू से भी एक पग आगे हैं।

'प्रसाद' की नाट्य-कला

पिछले वर्षों मे एक-एक कर हिन्दी के कई महारथी उठ गये। काव्य में अब भी नवीन शक्तियाँ जागृत हैं, उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में भी काम जारी है। नाटक का क्षेत्र सूना-सा दीखता है।

हिंदी नाटक का भण्डार वैसे भी रीता है। यह आश्चर्य की बात है, क्योंकि इस देश को नाट्य-कला का वरदान बहुत पहले से ही मिला था। ग्रीस के नाटकों की तुलना मे सफल नाटक संस्कृत मे लिखे गये थे। अब इस जाति की नाट्य-शक्ति क्यों परास्त और मौन है?

हिंदी मे अपना कोई रंगमंच नहीं। पारसी नाटक मण्डलियों के अभिनेताओं की अयोग्यताओं पर अभी तक हम निर्भर हैं। भारतेन्दु के नाटक रंगमंच के लिए लिखे गये थे। उनमें एक प्रकार की स्फूर्ति और अभिनव जीवन है। 'प्रसाद'जी के नाटक साहित्यिक और काव्य-प्रधान हैं। वाचनालय की शांति में ही उनका रस और जीवन है। रंगमंच के कोलाहल में उनकी सुकुमारता को कौन परख सकेगा? इसके लिए नये रंगमंच की ही नहीं, किन्तु भावुक और सुसंस्कृत द्रष्टाओं की आवश्यकता होगी।

अनेक वर्षों मे 'प्रसाद'जी हिंदी के मुख्य नाटककार समझे जाते रहे हैं। उन्होंने दो उपन्यास, अनेक कहानियाँ और काव्य ग्रन्थ रचे थे। 'कामायिनी' ने यह सिद्ध कर दिया कि सर्वप्रथम तो 'प्रसाद'जी कवि थे, पीछे नाटककार और कथाकार।

'प्रसाद'जी के व्यक्तित्व मे जो सादगी थी, उसके कारण उनके प्रति मन मे श्रद्धा होती है। वह सब साहित्यिक झगड़ों और गुट-बंदियों मे बचकर अनवरत काव्य-कल्पना में लीन थे। जगत के राग

द्वेष से अलग 'सत्य, शिव और सुन्दर' की उपासना में उन्होंने अपना जीवन बिता दिया।

इतिहास के प्रति 'प्रसाद'जी का प्रबल आकर्षण था। 'कंकाल' में उन्होंने इतिहास का आँचल छोड़ा और भारी ठोकर खाई। उनके अन्तर का कवि खँडहरों और प्राचीन भग्नावशेषों के अतीत जीवन की कल्पना कर उत्फुल्ल हो उठता था। उनकी रचनाओं में देश का इतिहास सजीव होकर हमारे नेत्रों के सामने घूम जाता है, जैसे कुछ देर के लिए अजन्ता अथवा बाग की गुफाओं के चित्र शताब्दियों की निद्रा से जाग रंगभूमि में आ पहुँचे हों।

'प्रसाद'जी कवि थे। काव्य ही उनके नाटकों का प्रधान गुण था। यदि कविता की परिभाषा 'रसात्मक वाक्य' मान ली जाय तो 'प्रसाद' जी के नाटक, कहानी आदि रस में डूबे हैं।

काव्यमय भाषा कथा के विकास में बाधा पहुँचाती है। 'कंकाल' में निरन्तर 'प्रसाद'जी भाषा के जाल में उलझे। कहानी-लेखक की दृष्टि से आपका मुख्य गुण वातावरण बनाना था। इसमें उनकी भाषा बड़ी सहायक हुई। 'आकाश-दीप' की यही सफलता है।

'प्रसाद' नाटककार का विकास आसानी से देखा जा सकता है। इतिहास की खोज और चरित्र की सूझ उनकी आरम्भ से ही ऊँची थी। उनके विकास की छाप उनकी भाषा और गीतों पर है। 'राज्यश्री' के गाने कुछ दुर्बल हैं। क्रमश: यह दुर्बलता मिट गई और 'स्कन्दगुप्त' आदि नाटकों में काव्य का काफी आलोक है।

भाषा और भावों का अद्भुत सामंजस्य 'कामना' में मिलेगा। बहुधा उनके पात्र गद्य-काव्य ही बोलते हैं। 'कामना' के वातावरण में यह बात खप जाती है।

'कामना' रूपकबद्ध नाटक है। फूलों के द्वीप में तारा की सन्तान सुख और शांति से बसती है। उसकी उत्पत्ति का हाल 'कामना' में इस प्रकार है :

'जब विलोड़ित जलराशि स्थिर होने पर यह द्वीप ऊपर आया, उसी समय हम लोग शीतल तारिकाओं की किरणों की डोरी के सहारे नीचे उतारे गये। इस द्वीप में अब तक तारा की ही सन्तानें बसती हैं।'

समुद्र के पार किसी दूरवर्ती देश से आकर 'विलास' ने इस द्वीप की शान्ति नष्ट कर दी। स्वर्ण और मदिरा की सहायता से उसने 'कामना' पर विजय पा ली। द्वीप में अनाचार फैलने लगा।

इसी प्रकार ग्रीस-निवासी सोचते थे कि इतिहास के पहले मनुष्य-जाति का स्वर्ण-युग था। किन्तु पैंडोरा (Pandora) ने पापों की मंजूषा उत्सुकता के कारण खोलकर अशान्ति फैला दी। इसी प्रकार कहते हैं, उत्सुकता के कारण ईव (Eve) ने ज्ञान के वृक्ष का फल खा लिया। उसी का फल हम भोग रहे हैं।

'कामना' के कथानक का प्रवाह अविरल है। फूलों के द्वीप में अनेक नये शब्द सुन पड़ते हैं—'ईर्ष्या', 'द्वेष', 'दम्भ', 'पाखण्ड'। 'विवेक' की सहायता से द्वीप निवासी 'विलास' को निर्वासित करते हैं। क्या फूलों के द्वीप का वह खोया हुआ सतोष उन्हें फिर भी मिल सकता है? काल-चक्र को उलटा कौन घुमा सकता है? 'प्रसाद'जी दुःखान्त नाटक नहीं लिखते, नहीं तो 'कामना' का पटाक्षेप वहाँ हो सकता था, जहाँ 'विलास' 'लालसा' को रानी बनाता है।

'कामना' के गीत भी बहुत मीठे हैं। 'प्रसाद'जी के गीतों का उनके काव्य में विशेष स्थान है। यदि उनके सब नाट्य-गीतों का अलग संग्रह किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा। इन गीतों में व्यथा, मार्मिकता और कोमलता भरी है। 'कामना' का गान तो बहुत ही सुन्दर है :

'छिपन वनबालियों के पीछे
ऊषा और चन्द्र किरनों ने तार प्रेम के खींचे
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे।
स्फुट हो उठे मूक कविता फिर जिन्होंने दृग मीचे।

स्मृति-सागर में पलक-चुलुक से बनता नहीं उलीचे।
मानस-तरी भरी करुणा-जल होते ऊपर-नीचे।'

'एक घूँट' में भी कुछ सुन्दर गीत हैं। यथा :

'जीवन-वन में उजियाली है।
यह किरनों की कोमल धारा
बहती ले अनुराग तुम्हारा।
फिर भी प्यासा हृदय हमारा
व्यथा घूमती मतवाली है।
हरित दलों के अन्तराल से
बचता-सा इस सघन-जाल से
यह समीर किस कुसुम-बाल से
माँग रहा मधु की प्याली है।'

'प्रसाद'जी को हम ऐतिहासिक नाटककार के रूप में देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। उनके नाटक बड़ी खोज के बाद लिखे जाते थे। अनेक स्थलों पर हमारे इतिहास का उन्होंने संशोधन भी किया। प्रसिद्ध इतिहास-वेत्ता राखाल बाबू भी इस बात को मानते थे। आपकी भूमिकाओं पर विद्वत्ता और खोज की मुहर है।

'कामना', 'एक घूंट' और 'विशाख' ऐतिहासिक नाटक नहीं हैं, परन्तु इनके वातावरण में प्राचीनता है। जिस समाज के चित्र 'मेघदूत' अथवा 'मालती-माधव' में मिलते हैं, उसी का चित्रण इन नाटकों में है। वह भारतीय सामन्तवाद का स्वर्ण युग था। केवल कला में उसका जीवन सुरक्षित है।

'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में आर्य और नाग जातियों का संघर्ष चित्रित है। प्राचीन गुरुकुलों के यहाँ उज्ज्वल चित्र हैं। ऐसे ही वर्णन उपनिषद् आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। भावों की प्रौढ़ता और कुशल चरित्र-चित्रण 'नाग-यज्ञ' की विशेषता है।

'अजातशत्रु' में भाषा और भी निखर गई है। 'अजातशत्रु' बुद्ध

के जीवन-काल का चित्र है। उस समय उत्तर भारत के प्रमुख राज्य मगध, कोशल, कौशाम्बी आदि थे। 'स्वप्न-वासवदत्ता' मे इन्हीं राज्यो का वर्णन है।

अजातशत्रु ने बिम्बसार का वध किया, इस मत से 'प्रसाद'जी सहमत नहीं। फिर भी बिम्बसार के गाम्भीर्य और अजातशत्रु के लोभ में एक प्रकार का आन्तरिक संघर्ष है। राजकुमार विरुद्धक के वक्तव्य सुन्दर हैं, किन्तु लम्बे हैं। 'अजातशत्रु' का चरित्र-चित्रण उच्च-कोटि का है। उत्तम नाटक के यहाँ सभी गुण हैं।

'चन्द्रगुप्त' 'प्रसाद'जी का सबसे लम्बा नाटक है। आपने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मौर्यवंश के राजा शुराजात शूद्र नहीं, पिप्पली कानन के क्षत्रिय थे। भारत के इतिहास मे यह युग चिरस्मरणीय है। कौटिल्य ने इसी समय 'अर्थ-शास्त्र' लिखा था और चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस को पराजित कर भारत का मुख उज्ज्वल किया था।

'मुद्राराक्षस' में कौटिलीय कुटिलता है, वह 'प्रसाद'जी के नाटक में नहीं। यहाँ अधिक आदर्शवाद और भावुकता है। कथानक की जटिलता में 'मुद्राराक्षस' अद्वितीय है। मेगस्थनीज के आधार पर 'चन्द्रगुप्त' का आदर्शवाद उचित दीखता है, किन्तु चाणक्य के चरित्र में भी 'प्रसाद'जी ने कुछ उच्छृंखलता दी है! 'मुद्राराक्षस' का स्थान इतिहास में सुदृढ़ है। उसके विरोध में 'प्रसाद'जी ने अपना स्वतन्त्र मत बनाकर साहस दिखाया है।

'चन्द्रगुप्त' में 'प्रसाद'जी की देश-पूजा स्पष्ट झलकती है। भारत के प्रति आपका गान इतना सुन्दर है कि राष्ट्र-सभाओं के अधिवेशनों में गाना चाहिए :

'अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

× × ×

लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज प्यारा।'

'ध्रुवस्वामिनी' गुप्त-काल के एक रहस्य पर प्रकाश डालता है। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच एक अन्य सम्राट् रामगुप्त के भी कुछ सिक्के मिले हैं। उन्हीं रामगुप्त की कथा यहाँ वर्णित है। 'ध्रुवस्वामिनी' की भाषा में ओज और सौन्दर्य है। चरित्र-चित्रण में प्रौढ़ता है। स्त्री-पात्र विशेष सफल हैं। गुप्तकाल की श्री और अवनति का यहाँ परिचय मिलता है।

'स्कन्दगुप्त' का विषय वही है, जो राखाल बाबू कृत 'करुणा' का। स्कन्दगुप्त भारत का भाल ऊँचा करनेवाले वीरों में थे। हूणों से युद्ध करते समय यह भारत के सम्राट् भूमि पर सोये थे। उनके साथ ही गुप्त-कुल की विजय-लक्ष्मी भी लुप्त हो गई। 'प्रसाद'जी के अनुसार दन्त-कथाओं के विक्रम स्कन्द ही थे। इन्हीं की राजसभा के कवि कालिदास थे।

नाट्य-कला की कसौटियों पर कसने से 'स्कन्दगुप्त' का स्थान बहुत ऊँचा है। विजया और देवसेना का चरित्र-चित्रण सुन्दर है। स्कन्द, चक्रपालित, बुद्धवर्मा गुप्तकाल की विभूतियाँ हैं। बौद्ध भिक्षु हूणों के साथ मिलकर षड्यन्त्र रच रहे थे। गुप्त-साम्राज्य का वह मध्याह्न-काल था। सूर्य अस्ताचल की ओर झुक चले थे। पुरुगुप्त के अशक्त हाथों में राजदण्ड थामने का बल न था। नाटक में इसका सजीव चित्र है।

'स्कन्दगुप्त' की भाषा प्रौढ़, चरित्र-चित्रण कुशल और कल्पना सुकुमार है।

'प्रसाद' ने हिन्दी में एक नये ढंग के नाटक की सृष्टि की। 'चन्द्रावली' काव्य-प्रधान नाटक था, किन्तु उसमें नाटक की अपेक्षा काव्य ही अधिक था। 'प्रसाद' के नाटक सर्वप्रथम साहित्य की विभूति हैं, किन्तु उचित परिस्थितियों में अभिनय के योग्य भी हैं।

अनेक उच्चकोटि के पात्रों से उन्होंने हिन्दी नाटक का भंडार भरा है। आपके पात्र अधिकतर सुकुमार, भावुक और आदर्शवादी होते हैं।

स्वयं 'प्रसाद' ऐसे थे, फिर उनके पात्र कहाँ से भिन्न होते ? स्त्री पात्रों में नारीसुलभ कोमलता लाने मे 'प्रसाद' विशेष सफल हुए। मध्यम कोटि के चरित्र 'प्रसाद' जी से हमको नहीं मिले, न मानव-स्वभाव की जटिलता।

'प्रसाद' को हिन्दी का स्कॉट (Scott) कहा जा सकता है। हमारे प्राचीन इतिहास के भग्नावशेषों की आपने रक्षा की है और इतिहास के कङ्काल मे जीवन-सचार किया है।

भाषा के प्रति 'प्रसाद'जी का मोह अधिक था। मधुर भाषा मे लीन हो वह और सब भूल जाते थे। चरित्र-चित्रण और कथानक का भी महत्त्व आँखों की ओट हो जाता था।

'प्रसाद' के नाटकों मे व्यथा का भार रहता है। इसके लिए आप विशेष चरित्र गढ़ते हैं। आपके गीत व्यथा से ओत प्रोत होते हैं। किन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार आप दुःखांत नाटक नहीं लिखते। नाट्य शाला से दर्शक हल्के हृदय लौटें, यह हमारे नाटककारों का सदैव लक्ष्य रहा है।

'प्रसाद' कवि हैं, दार्शनिक नहीं। आपके नाटकों मे हमें कोई विशेष सन्देश नहीं मिलता। जीवन के अनेक दृश्य—पीड़ा के, सुख के, आह्लाद के—आपने देखे हैं। रंगीन कल्पना मे डुबोकर आप उन्हें चित्र-पट पर खींच देते हैं। किन्तु इस उदासीन कलाकार की अन्तरात्मा मनुष्य की वेदना के प्रति अधिक आकर्षित होती है।

अतीत के चित्रण में भी कलाकार सामाजिक शक्तियों का संघर्ष देख सकता है और किस प्रकार इतिहास में नया सामंजस्य स्थापित होता है, यह दिखा सकता है। 'नाग यज्ञ' आदि में 'प्रसाद'जी ने ऐसा प्रयत्न भी किया, किन्तु अधिकतर वह वर्त्तमान जीवन की विषमता और शुष्कता को भूल अतीत के स्वप्न देखने में ही निमग्न थे।

एकांकी नाटक

एकांकी नाटक का लम्बे नाटक से लगभग वही संबन्ध है, जो कहानी का उपन्यास से। इनमें केवल लंबाई का ही अन्तर नहीं है। दोनों विभिन्न जातियों की रचनाएँ हैं। एक में जीवन के किसी विशेष अंग की झलक रहती है, चरित्र का कोई एक पहलू, कोई घटना-संकेत; दूसरे में जीवन की जटिलता, चरित्र की गुत्थियाँ, घटना-चक्र का नर्त्तन। एकांकी नाटक की कला अलग अपनी है। थोड़े-से समय में दर्शक को जीवन की विषम समस्याओं का कुछ अनुमान करा दे, यह एकांकी नाटक का लक्ष्य है।

एकांकी नाटक की आयु अधिक नहीं हुई। वैसे तो छोटे छोटे दृश्य पुरातन से रंगमंच पर दिखाये गये हैं। अँग्रेजी के पुराने नाटक Everyman अथवा The four P ? एक प्रकार के एकांकी नाटक ही हैं। कठपुतलियों के तमाशे जिनसे रंगमंच के विकास का घना संबन्ध है, एकांकीनाटक के-से ढङ्ग पर ही ढले थे। किन्तु महासमर से कुछ वर्ष पूर्व—जब अंग्रेजी रंगमच लगभग एक शताब्दी की गहरी निद्रा से आँख मलकर उठ रहा था—एक नये ढङ्ग के छोटे नाटक का जन्म हुआ और शीघ्र ही वह लोकप्रिय भी हो गया। अमरीका में एकांकी नाटक का विशेष स्वागत हुआ, क्योंकि स्वभाव से ही अमरीका-निवासी पट्रस व्यंजन पसन्द करते हैं। एक लम्बे गम्भीर नाटक की अपेक्षा दो विभिन्न ढङ्ग क छोटे नाटक देखना उन्होंने अधिक अच्छा समझा।

कहते हैं कि यह युग बड़ा तीव्रगामी है। इसे पल मारने का भी अवकाश नहीं। लन्दन अथवा बम्बई ऐसे नगर में ग्रामीण सोचता है कि कहीं आग बुझाने सब कोई भागे जा रहे हैं। रेल, तार और वायुयान के इस गतिशील युग में कौन वह अन्त न होनेवाले ग्रन्थ पढ़े—जिनमें जीवन की अचल घड़ियाँ ही सुरक्षित हैं? अथवा कौन रात में थका-माँदा घण्टों कठिन 'सीट' पर बैठ अपनी नींद खराब

करे? इस युग की तन्मयता भी महासमर ने नष्ट कर दी। उन चार वर्षों में गम्भीर नाटक को रंगमंच-से हल्के, सङ्गीत प्रधान प्रहसन ने निकाल बाहर किया। दर्शक अपने को भूलने के लिए ही रंग-भूमि में पहुँचते थे। एकाग्र साहित्य-साधना की किसी को इच्छा न रही।

ऐसे ही अनेक कारणों से एकांकी नाटक का पश्चिम के साहित्य में उत्थान हुआ। रंगमंच का स्वामी केवल अपना लाभ देखता है। कला की परख उसके पास नहीं। इन वणिकों और पेशेवाले अभिनेताओं से रंगमंच का उद्धार करने को इंगलैण्ड में अनेक स्वतन्त्र नाटक मण्डलियाँ बनीं। विद्यालयों और मनोरंजन के लिए अभिनय करनेवाले समाज में एकांकी नाटक का खूब स्वागत हुआ।

पश्चिम के नाटक-साहित्य मे जो अब नया जीवन-संचार है, उसका एक चिह्न एकांकी नाटक की सफलता भी है। जन-साधारण में नाट्य-कला के प्रति जो उत्साह है, उसे एकांकी नाटक से बेहद सहायता मिली है।

अंग्रेजी मे एकांकी नाटक पुस्तकबद्ध हो गये हैं। पठन-पाठन के लिए अनेक मालाएँ उपलब्ध हैं। शॉ (Shaw), गॉल्जवर्दी (Galsworthy), येटस (Yeats) आदि महारथियों ने भी अनेक एकांकी नाटक लिखे हैं। शॉ का सर्व-प्रसिद्ध संक्षिप्त नाटक The man of Destiny नेपोलियन का रेखा-चित्र है। The Dark Lady o the Sonnets शेक्सपियर के जीवन की एक किंवदन्ती का मनोरंजक और तुछ व्यंग्य लिये वर्णन है। शायद सभी एकांकी नाटकों में असमान्य और प्रभावशाली Synge का Riders to the sea है। इस छोटे-से दुःखान्त नाटक में बड़ी व्यथा भरी है और इसकी सीधी-सादी भाषा में काव्य की आत्मा छिपी है।

पश्चिम में एकांकी नाटक के 'लघु जीवन' का इतिहास अभी से गर्वपूर्ण है। पाश्चात्य जीवन की अनेक अनुभूतियाँ यहाँ सुरक्षित हैं—उनके मधुर स्वप्न, गहिर विश्वास, आशा, अभिलाषाएँ, उनका हास्य, जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण।

हिन्दी का कोई स्वतन्त्र रंगमंच नहीं। हमारे रंगमंच पर पारसी कंपनियों का अधिकार है। 'भारतेन्दु' और 'व्याकुल' नाटक-मंडलियों ने हमारे रंगमंच को साहित्यिक बनाने में भगीरथ प्रयत्न किया, किन्तु यह प्रयास विफल रहा। हिन्दी के नाटक केवल पढ़े जाते हैं। वाचनालय की शान्ति के बाहर उनका जीवन नहीं। इसका प्रबल अपवाद 'एक भारतीय आत्मा' का 'कृष्णार्जुन युद्ध' था।

'भारतेन्दु' हमारे पहले नाटककार थे। उनके नाटक भी अभिनय के लिए लिखे गये थे, यद्यपि 'चन्द्रावली' को नाटक की अपेक्षा काव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। भारतेन्दु के नाटकों में एक प्रकार की हलचल और उद्दाम यौवन है। आपका असपूर्ण नाटक 'प्रेमयोगिनी' संक्षिप्त नाटक समझा जा सकता है, यदि हम उसे केवल जीवन का एक टुकड़ा समझें। पं० बद्रीनाथ भट्ट बड़े मनोरंजक प्रहसन लिखते थे। 'चुङ्गी की उमेदवारी' पढ़कर अब भी हम हँस सकते हैं। 'प्रसाद'-जी ने साहित्यिक नाटक को हिन्दी में बहुत ऊँचे आसन पर बैठाया। आपका 'एक घूँट' सफल एकांकी नाटक है। यहाँ जीवन की विनोद और काव्यपूर्ण झाँकी हमें मिलती है। और उत्कृष्ट कोटि के हल्के रेखा-चित्र।

पिछले वर्षों में पं० गोविन्दवल्लभ पन्त और सुदर्शनजी ने मासिक-पत्रों में अनेक एकांकी नाटक लिखे। अनिच्छापूर्वक हमें स्वीकार करना पड़ता है कि ये नाटक एक लीक में ही फँस रहे। उगते हुए साहित्य के यहाँ कोई लक्षण नहीं दीखे।

अंग्रेजी के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में एकांकी नाटक की एक नई धारा फूट रही है। हिन्दी के भावी रंगमच पर इसका भारी प्रभाव हो सकता है। हमारे विश्वविद्यालयों में जो अभिनय-योग्य नाटकों की खोज मचती है, वह दूर हो सकती है। साथ ही हमारा साहित्यिक नाटक भी पुनः रंगमच के जीवन से मिल सकता है।

श्री भुवनेश्वरप्रसाद के एकांकी नाटकों का सग्रह 'कारवाँ' कुछ नई शक्ति लेकर आया। 'कारवाँ' की कृतियों पर पाश्चात्य 'टेकनीक'

और विचार-धारा की गहरी छाप है। किन्तु दल-दल में फँसे साहित्य का उद्धार ऐसी विप्लवकारी शक्तियों से ही होता है। रूढ़िग्रस्त हमारे समाज के प्रति इन नाटकों में घोर असंतोष है। अवसाद और उद्विग्नता की जो अन्तर्ध्वनि यहाँ सुन पड़ती है, वह नष्ट होते हुए समाज में स्वाभाविक है।

'कारवाँ' के निर्देश (Stage directions) लम्बे और व्यापक हैं। उनकी भाषा एक नया आश्चर्य और विस्मय लिये है; उसकी विशेषता काव्य, शक्ति, अदम्य प्रवाह हैं। आपके शब्द-चित्र हमें विवश आकर्षित करते हैं—'कानपुर के पार्श्वभाग में लज्जा से मुँह छिपाये कुलियों के निवास-स्थान'; 'उसी ज्वलन्त नगर के प्रेत के समान एक भाग में एक कोठरी।' आपकी उपमाएँ—'मलिन वस्त्रों में बाईस वर्ष की युवती—जैसे आँसुओं की नीहारिका में नेत्र'; 'आपत्ति के समान एक २६-२७ वर्ष के युवक का प्रवेश'; 'घर का नौकर—जो भाग्य के समान काँप रहा है।' इतना नग्न यथार्थवाद अहमद-अली की कहानियों में हमने अवश्य देखा है, किन्तु भाषा में वहाँ ऐसी लचक, व्यापकता, मौलिकता नहीं; शायद उनके उर्दू गद्य में हो।

शॉ का 'कारवाँ' के लेखक पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। आपने माना भी है कि आपका 'शैतान' शॉ का ऋणी है। 'श्यामा' पर 'Candida' की छाया लम्बी होकर पड़ी है। आप विवाह की विडम्बना में काफ़ी उलझे हैं। आपके नाटकों में अधिकतर दो तरह के पात्र मिलेंगे—एक तो समाज के आगे आदर्शवादी बने, भीतर से खोखले, कपटी व्यक्ति, दूसरे समाज के सामने पतित, विद्रोही; किन्तु भारी बलिदान की क्षमता रखनेवाले वीर। आपके नाटक पढ़कर अनायास ही Ibsen के 'Doll's House' अथवा 'Pillars of Society और शॉ के 'The . Devil's Disciple', Candida' आदि का स्मरण हो आता है। किन्तु आपके दृश्य सचमुच ही भारतीय जीवन की कठिन और व्यथित आलोचना हैं। इन नाटकों में जीवन

की-सी असंपूर्णता है। हमें खेद है कि इन नाटकों की हिंदी-जगत् में अभी तक समुचित चर्चा नहीं हुई।

श्रीयुत पृथ्वीनाथ शर्मा का एकांकी नाटक 'दुविधा' भी पाश्चात्य 'टेकनीक' से प्रभावित है, किन्तु स्वयं उसमें अपना उमड़ता हुआ जीवन नहीं। जैसा 'कारवाँ' में अवश्य है!

श्रीयुत सज्जाद जहीर ने 'हंस' में 'बीमार' नाम का एकांकी लिखा था। आपकी भाषा सजीव हिन्दुस्तानी और आपके विचार प्रगतिशील हैं। अहमदअली की अपेक्षा आप राजनीति की ओर बहुत झुक गये हैं, किन्तु साहित्यकार के आपमें भी स्वाभाविक गुण हैं। समाज की बँधी व्यवस्था को आप कठोर आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं और आपकी रचनाएँ नई दिशाओं की ओर इंगित करती हैं।

श्रीयुत रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों के अनेक संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें, 'रेशमी टाई' आदि प्रकाशित हुए हैं। नाटक अच्छे हैं और ऊँची काव्य-कल्पना के गुण उनमें हमें निरन्तर मिले हैं। 'बादल की मृत्यु' तो नाटक के रूप में कविता ही है। 'चम्पक' हमको बहुत अच्छा लगा। 'नहीं का रहस्य' उससे कुछ उतर-कर। उच्च मनुष्य-स्वभाव के यहाँ विशद चित्र हैं।

वर्माजी को पथ-दर्शक के रूप में हम नहीं देख सके। एकांकी नाटक को अथवा हिन्दी-साहित्य को यहाँ कोई नया पथ नहीं सुझाया गया। सरस भाषा और भावुकता जो इन नाटकों के प्रधान गुण हैं, वर्माजी की निजी संपत्ति हैं। 'टेकनीक' आदि में कुछ वर्माजी ने नया अन्वेषण नहीं किया।

श्री लक्ष्मीप्रसाद मिश्र 'अश्क', श्री उदशंकर भट्ट और सेठ गोविन्ददास ने भी इस दिशा में सराहनीय प्रयास किया है। हिन्दी के सर्वोत्तम अभिनीत नाटक जगदीशचन्द्र माथुर के 'भोर का तारा' और 'जय और पराजय' हैं।

हमें विश्वास होता है कि हिन्दी रंग-मंच और एकांकी नाटक का

भविष्य उज्ज्वल है। उच्च-कोटि के मौलिक नाटक और अनुवाद हमारे सामने हैं। गुजराती के नवयुवक कवि श्री कृष्णलाल श्रीधराणी का एकांकी नाटक 'वरगद' तो हमें बहुत ही प्रिय और मीठा लगा। अन्य भाषाओं में भी काम हो ही रहा है। हिन्दी की सृजन-शक्ति भी जाग्रत है। केवल एकांकी नाटक की ओर अभी वह उन्मुख नहीं हुई।

पन्तजी एक सुन्दर नाटक 'ज्योत्स्ना' लिख ही चुके हैं। क्या हम आशा करें कि कविता की भाँति हमारे एकांकी नाटक में भी वह कुछ नयी बात ला देंगे ? श्री भगवतीचरण वर्मा की कहानियो पर नाट्य-पद्धति की काफी छाप है ; चित्रपट के व्यक्तिगत अनुभव से भी आप इधर आकर्षित हुए होंगे। आपने सफल एकांकी लिखे भी हैं।

शायद स्वतः ही ये शक्तियाँ रंगमंच की परिधि में खिंच आयें। यदि लोकमत और साहित्यिक रुचि में बल है, तो नाटक का भण्डार भी पूरा हो जायगा। विश्वविद्यालयों में और बाहर भी तरुण युग रंग-मंच की ओर मुड़ रहा है। यदि हममें स्वयं प्राण हैं, तो हमारे साहित्य का कोई अंग कैसे और कब तक निष्प्राण रह सकता है ?

प्रेमचन्द : कहानीकार

(१)

कहानी का जन्म पूर्व में हुआ। आजकल भी सिन्दबाद और अलादीन अथवा हितोपदेश की कहानियों से हमारा मनोरंजन होता है। परन्तु आधुनिक साहित्यिक गल्प कई शताब्दियों तक पश्चिम में निवास कर अब पूर्व को लौटी है। मेन्ट्रमग्री के कथनानुसार कहानी के चार अंग होते हैं। कथानक (Plot) चरित्र-चित्रण (Character), वार्ता (Dialogue) और वर्णन अथवा वातावरण (Description)। पश्चिम में, विशेषकर इङ्गलैण्ड के, कहानीकारों का कथानक अनाकर्षक होता है। चरित्र-चित्रण ही उनका मजबूत होता है।

यह स्वाभाविक-सी बात मालूम होती है कि पूर्व में फिर उत्कृष्ट कहानी-लेखकों का जन्म हो, क्योंकि इस कला में पूर्व सदा से निपुण रहा है। केवल कहानी का रूप बदल गया है।

प्रेमचन्द ने 'मानसरोवर' के 'प्राक्कथन' में लिखा है—'सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' 'प्रेम द्वादशी' की भूमिका में आपने लिखा है—'वर्तमान आख्यायिका का मुख्य उद्देश्य साहित्यिक रसास्वादन कराना है, और जो कहानी इस उद्देश्य से जितनी दूर जा गिरती है, उतनी ही दूषित समझी जाती है।' प्रेमचन्द का विशेष महत्त्व यह है कि अपने उपन्यास और कहानियों में उन्होंने भारत की आत्मा को सुरक्षित रखा है।

उनकी रचनाओं का स्मरण करते ही भारत के ग्राम, यहाँ का कृषक-वर्ग, उच्च-कुल की ललनाएँ, आम और करौंदे के पेड़, यहाँ के पशु-पक्षी स्मृति-पट पर घूम जाते हैं। आपकी रचनाएँ पढ़कर देश के मनुष्य और आदर्श हमारी दृष्टि में ऊपर उठ जाते हैं।

प्रेमचन्द और सुदर्शन दोनों ही पहले उर्दू में लिखते थे। 'सप्त-सरोज' और 'सेवासदन' का उपहार देकर प्रेमचन्द ने हिन्दी-साहित्य में प्रवेश किया। इन रचनाओं में जो रस, अनुभूति और प्रतिभा है, उसके आगे प्रेमचन्द न बढ़ सके।

उपन्यास और गल्प भिन्न कला है। यह आवश्यक नहीं कि सफल उपन्यासकार अच्छा गल्प-लेखक भी हो। उपन्यास में जीवन का दिग्दर्शन होता है, गल्प में केवल झाँकी मात्र होती है। मानव-चरित्र के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालने को, किसी घटना या वातावरण की सृष्टि के लिए कहानी लिखी जाती है। जीवन के सभी अंगों पर या मानव-चरित्र की सभी जटिलताओं पर कहानी प्रकाश नहीं डाल सकती। प्रेमचन्द लिखते हैं—'कहानी में बहुत विस्तृत विश्लेषण की गुंजायश नहीं होती। यहाँ हमारा उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, वरन् उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।'

प्रेमचन्द सफल उपन्यासकार और गल्प-लेखक थे। इस लेख में हम उनकी कहानी-कला पर कुछ विचार करेंगे।

(२)

'सप्त-सरोज' प्रेमचन्द का पहला कहानी-संग्रह है। इसके विषय में शरद् बाबू ने यह सम्मति दी थी—'गल्पें सचमुच बहुत उत्तम और भावपूर्ण हैं। रवीन्द्र बाबू के साथ इनकी तुलना करना अन्याय और अनुचित साहस है। पर और कोई भी बँगला लेखक इतनी अच्छी गल्पें लिख सकता है या नहीं इसमें सन्देह है।

रवि बाबू की भाषा मे जो माधुरी और रस है, उनकी रचना में जो अनुभूति और पीड़ा है, उसकी समता प्रेमचन्द नहीं कर पाते। परन्तु प्रेमचन्द की रचना में अपने अनेक गुण हैं, जो और कहीं नहीं मिलते। ग्रामीण कृषकों का हृदय कौन इतनी अच्छी तरह जानता है? गांधी के अतिरिक्त और किसने इतनी तपस्या से ग्राम्य-जग को पहचाना है? 'पंच-परमेश्वर' के अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति की एकता का ऐसा चित्रण और कहाँ मिलेगा?

ग्राम्य-जग का चित्र खींचते हुए आप कहते हैं—'वहाँ आम के वृक्षों के नीचे किसानों की गाढ़ी कमाई के सुनहरे ढेर लगे हुए थे। चारों ओर भूसे की आँधी-सी उड़ रही थी। बैल अनाज दाँते थे; और जब चाहते भूसे में मुँह डालकर अनाज का एक गाल खा लेते थे। गाँव के बढ़ई और चमार, धोबी और कुम्हार अपना वार्षिक कर उगाहने के लिए जमा थे। एक ओर नट ढोल बजाकर अपने कर्तब दिखा रहा था। कवीश्वर महाराज की अतुल काव्य-शक्ति आज उमङ्ग पर थी।'

—'उपदेश', 'सप्त-सरोज।'

इस संग्रह में दो कहानियाँ तो बड़ी ही उच्चकोटि की हैं:—'बड़े घर की बेटी' और 'पंच-परमेश्वर'। किसी भी साहित्य को ऐसी रचनाओं पर गर्व हो सकता है।

'बड़े घर की बेटी' छोटे-से गाँव में आई, जहाँ वह रेशमी स्लीपर न पहन सकती थी, जहाँ नाम के लिए कोई सवारी भी न थी। न ज़मीन पर फ़र्श, न दीवारों पर चित्र। फिर भी उसने यहाँ की गृहस्थी सम्हाल ली। एक बार खाना बनाते समय देवर से कहा-सुनी हो गई और उसने आनन्दी को खड़ाऊँ खींच मारा। वह बहुत रोई। उसके पति भी झल्लाये। घर से अलग होने की नौबत आ गई। अब उसका देवर भी पछता रहा था और आँसू बहा रहा था। आनन्दी पिघली। उसने बीच-बचाव कर शान्ति करवा दी।

मानव स्वभाव का यह बड़ा मार्मिक और सुन्दर चित्र है। प्रेमचन्द की रचनाओं को पढ़कर मनुष्य पर हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है। उनमें वास्तविकता और आदर्शवाद का सुन्दर सम्मिश्रण रहता है। हम यह कभी नहीं सोचते कि यह चरित्र कल्पना-जग के हैं। उनके वर्णन में वास्तविकता होती है, किन्तु उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी रहता है।

जो कथा-शैली प्रेमचन्द ने यहाँ अपनाई उसको अन्त तक निभाया। 'बड़े घर की बेटी' एक हद तक कठोर होती चली जाती है, फिर अत्यन्त नम्र हो जाती है। जैसे लोहे की पत्ती जितने ज़ोर से खींची जायगी, उतनी ही शक्ति से वह उचटेगी। या धनुष की प्रत्यञ्चा जितनी ही खींची जायगी उतनी ही दूर वह बाण को फेंकेगी। उनकी इस शैली को गणित की रेखाओं से समझ सकते हैं। एक हद तक कथा का चढ़ाव होता है; फिर वह पीछे हट जाती है।

इसी प्रकार 'पंच-परमेश्वर' भी एक हद तक गिरते हैं, फिर सँभल जाते हैं। पिछले वर्षों की लिखी हुई कहानियों के संग्रह 'मानसरोवर' में भी इस शैली की अनेक गल्पें मिलती हैं।

प्रेमचन्द में सच्चे साहित्यकार की सब अनुभूतियाँ थीं। मनुष्य-स्वभाव पर उन्हें श्रद्धा थी। कसौटी पर चढ़कर मनुष्य सच्चा ही उतरता है। उदाहरणार्थ, कुछ बाद की लिखी कहानी 'ईश्वरीय न्याय।'

उनकी भाषा ग्रामीण-जीवन-सी ही सीधी-सादी है। उनकी उपमाएँ

दैनिक जीवन से ली गई हैं। 'जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल उठती है, उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य ज़रा-ज़रा-सी बात पर तिनक उठता है।' (बड़े घर की बेटी) 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठ देने पर भी कहीं-न-कहीं से टूट ही जाती है।' (सौत)।

भाषा मुहावरेदार काफ़ी है। 'पहले घर में दिया जलाते हैं, फिर मस्जिद में।' कहीं-कहीं पर बड़ा कोमल व्यंग्य है। 'इञ्जिनियरों का ठेकेदारों से कुछ वैसा ही संबन्ध है जैसा मधुमक्खियों का फूलों से। यह मधुरस कमीशन कहलाता है। कमीशन और रिश्वत में बड़ा अन्तर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों ही का सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहाँ न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय...।' (सज्जनता का दण्ड)।

'सप्त-सरोज' में प्रेमचन्द की कहानी-कला का जो रूप बना, वह अन्त तक बना रहा। इधर कुछ उसमें परिवर्तन होने लगा था, किन्तु अनेक वर्षों तक उनकी कथा के पात्र ऐसे ही वातावरण में, ऐसे ही स्वरूप से भ्रमण करते रहे।

(३)

'नव-निधि' में बहुत करके ऐतिहासिक कहानियाँ हैं। कहानियाँ सभी मनोरंजक हैं। किन्तु प्रेमचन्द की गल्प-कला इन कहानियों में उतनी उच्च कोटि की नहीं। कथानक के उतार-चढ़ाव में और चरित्र-चित्रण में लेखक की कल्पना को उतनी स्वतन्त्रता नहीं। प्रेमचन्द की कहानी-कला का एक विशेष गुण कथानक-गुम्फन है। कसीदे के समान घटना का जाल उनकी कल्पना बनाती है। किन्तु 'नव-निधि' में उनकी कल्पना बँध-सी गई है।

ऐतिहासिक कहानी की नस्ल खच्चर के समान है। न वह इतिहास है, न सफल कहानी ही। लेस्ली स्टीफेन (Leslie Stephen) ने उसे वर्ण संकर (Hybrid) बताया है। ऐतिहासिक कहानी तब सफल होती

है, जब ऐतिहासिक वातावरण में कल्पना के चरित्र विचरें। ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर कहानीकार अपनी सब स्वतन्त्रता खो देता है। 'नव-निधि' में 'धोखा' नाम की कहानी सुन्दर है। शायद इसके पात्र और इसका कथानक कल्पित हैं।

'नव-निधि' की पिछली तीन गल्पें 'अमावस्या की रात्रि', 'ममता' और 'पछतावा' प्रतिभापूर्ण हैं। इनमें प्रेमचन्द की स्वाभाविक कहानी-कला का चमत्कार है। जो शैली उन्होंने 'सप्तसरोज' में अपनाई थी, उसी को सफलतापूर्वक निबाहा है। इनमें मनुष्य के हृदय की, उसके भावों की अच्छी सूझ है।

यह ऐतिहासिक कहानियाँ अधिकतर मुग़ल साम्राज्य के मध्याह्न-काल की हैं। पहली दो कहानियाँ 'राजा हरदौल' और 'रानी सारन्धा' बुन्देलों की वीरता और आन का चित्रण हैं। इन कहानियों को पढ़ कर मन में राजपूताने की वीर-कथाएँ हरी हो जाती हैं।

'प्रेम-पूर्णिमा' में प्रेमचन्द की कहानी-कला में कुछ विकास न हुआ। अधिकतर कहानी सुगठित हैं और 'सप्त-सरोज' के पथ पर चली हैं। 'ईश्वरीय न्याय', 'शंखनाद', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन', आदि कहानी 'पंच-परमेश्वर' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी उत्कृष्ट कहानियों से टक्कर लेती हैं। 'शङ्खनाद' और 'दुर्गा का मन्दिर' तो प्रेमचन्दजी ने अपने 'प्रेम-द्वादशी' नामक बारह सर्वोत्तम कहानियों के संग्रह में भी रक्खी है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर 'सप्त-सरोज' और और 'प्रेम-पूर्णिमा' के बीच उनकी कला का कुछ ह्रास ही हुआ। अधिकतर कहानियाँ पुरानी लिखी हुई जान पड़ती हैं, अथवा यह हो सकता है कि उनकी कला एक परिपाटी को अपनाकर विकसित न हो सकी।

प्रेमचन्द का विशेष गुण उनका मनोविज्ञान है। हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव समझने में वे निपुण हैं। 'ईश्वरीय न्याय', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बेटी का धन' आदि गल्पें इसी सूझ के कारण सफल हैं।

जहाँ ग्राम्य-जग की ओर प्रेमचन्द ने मुख मोड़ा है, वहाँ उन्होंने

आशातीत सफलता पाई है। 'शंखनाद' नाम की कहानी में ग्राम्य-जीवन का विशद वर्णन है। पात्रों के नामों तक में ग्रामीणता भरी है। उनके नामों से हमें काफ़ी सन्तोष मिलता है—भानु चौधरी के लड़के बितान, शान और गुमान चौधरी, मिठाई बेचनेवाला गुरदीन, गुमान चौधरी का लड़का धान। गुमान के व्यसन—मुहर्रम में ढोल बजाना, मछली फँसाना, दंगल में भाग लेना। इस ग्राम्य-जीवन के चित्रण में अवश्य ही दैवी शक्ति है।

किन्तु बार-बार हमारे मन में उठता है कि प्रेमचन्द मध्य-वर्ग के मनुष्यों को नहीं पहचानते, विशेषकर नगर के मध्य-वर्ग को। न इनसे प्रेमचन्द को कुछ सहानुभूति ही है। जिस प्रकार ग्राम मे इतनी पीड़ा होते हुए भी ग्रामीण के हृदय में उदारता है, उसी तरह अनेक नागरिक भी हृदय में व्यथा छिपाये पड़े हैं। रवि बाबू इन्हें .खूब पहचानते थे।

प्रेमचन्द की विशेष अकृपा उन व्यक्तियों पर है जो पश्चिम की संस्कृति के दास हो चुके हैं। ऐसे मनुष्यों को धर्म और नीति का ज्ञान नहीं। 'धर्म-संकट' नाम की कहानी में कामिनी को अच्छी-भली अ-सती बना दिया है। जब देश में अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति अनुराग बढ़ रहा है, तब ऐसा दृष्टिकोण स्वाभाविक था।

परन्तु कलाकार का एक विशेष उत्तरदायित्व होता है। कला धर्म के आडम्बर से परे है। वह नैतिकता का ऊँचा उठता रूप हमें दिखाती है। 'प्रेम-पूर्णिमा' की कुछ कहानियों से हमें ऐसा भासित हुआ कि यदा-कदा उनकी कला धर्म आदि के आडम्बर से दब गई है। 'सेवा-मार्ग', 'शिकारी राजकुमार' और 'ज्वालामुखी' कुछ इसी प्रकार की कहानियाँ हैं।

कहानी के इतिहास में नैतिक कथा का स्थान बहुत नीचा है। 'हितोपदेश' और 'ईसप' की कथाएँ बच्चे ही अधिक चाव से पढ़ते हैं।

कभी-कभी तो ईसप की कथाओं के नैतिक विचार की भाँति प्रेमचन्द भी अपनी कहानियों का अन्त मोटे अक्षरों में छापते हैं। 'यही ईश्वरीय न्याय है' ; 'यह सचाई का उपहार है' ; 'यही महातीर्थ है'

आदि। हिन्दी के सौभाग्य से प्रेमचन्द की कला का यह रूप अस्थिर रहा।

'प्रेम-पच्चीसी' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द की कला में कुछ नये अणु दीखे। इन कहानियो के लिखने के समय सत्याग्रह का बवंडर चल रहा होगा। प्रेमचन्द के व्यक्तित्व का मनोहर अंश उनकी गान्धी-भक्ति है। अपनी कला से जो कुछ देश की सेवा वह कर सके, उन्होंने की। 'सुहाग की साड़ी', 'दुस्साहस' आदि राजनीतिक रंग लिये कहानियाँ हैं। 'आदर्श-विरोध' और 'पशु से मनुष्य' भी इसी गहन समस्या पर विचार हैं। गांधी आन्दोलन का सुन्दर रूप चित्र-कला में कनु देसाई ने दिखाया। प्रेमचन्द की कला को भी हम इस देश-व्यापी संग्राम से अलग नहीं कर सकते।

'मूढ़' और 'नाग पूजा' में ऐसा लगता है कि शायद प्रेमचन्द जादू आदि पर विश्वास करते हो। जीवन में इतने रहस्य भरे पड़े हैं कि मनुष्य की बुद्धि चकरा जाती है।

प्रेमचन्द पशु-जीवन से भी भली-भाँति परिचित हैं। 'स्वत्वरक्षा' एक घोड़े के चरित्र का दर्शन है। 'पूर्व-संस्कार' में जवाहर नाम के बैल का अच्छा वर्णन है। उनकी कहानियों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

'दफ्तरी', 'वौड़म', 'विध्वंस', आदि सूक्ष्म चरित्र-चित्र है। इस कला में प्रेमचन्द ख़ूब दक्ष हैं। यदि ऐसे चित्र एकत्रित किये जायँ तो शायद ही जीवन का कोई अंग इनसे अछूता पाया जाय। 'प्रेम-पचीसी' की सर्वोत्तम कहानियों में 'बूढ़ी काकी' अवश्य गिनी जायगी। यह कहानी बड़ी सच्ची और मर्मभेदी है। 'लोकमत का सम्मान' उनकी अच्छी कहानियों से टक्कर ले सकती है।

किन्तु प्रेमचन्द को शायद 'आत्माराम' अधिक भाती थी। इसे उन्होंने 'प्रेम-द्वादशी' मे भी स्थान दिया है। कहानी मनोरंजक है। किन्तु इसकी विशेषता घटना-प्राधान्य है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द का अपनी क़ला पर पूर्ण अधिकार है। कहा-

नियों में एक प्रकार की सरलता-सी है। किन्तु जिस आशा को लेकर हम 'सप्त-सरोज' छोड़कर उठे थे, वह अभी पूर्ण नहीं हुई। कलाकार किसी एक लकीर का ही फकीर नहीं होता।

'प्रेम-प्रतिमा' नाम के संग्रह में प्रेमचन्द ने उस आशा को पूरा किया।

(४)

'प्रेम-प्रतिमा' की कहानियाँ हिन्दी के उस जागृति-काल की है, जब 'माधुरी' के प्रकाशन ने हिन्दी में नव-जीवन-संचार किया था। इन कहानियों मे प्रौढ़ता, रस, विनोद सभी हैं।

'मुक्ति-धन', 'डिग्री के रुपये', 'दीक्षा', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ उनकी कला के सर्वोच्च शिखर पर हैं। इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि यह प्रेमचन्द के कला-जीवन का मधु-मास था। इन कहानियों मे विचित्र स्फूर्ति और हृदय की उमङ्ग है।

'बूढ़ी काकी' में विनोद की झलक है; हृदय की व्यथा भी है। इस संग्रह मे अनेक कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें निरा विनोद-भाव है।

'मनुष्य का परम धर्म', 'गुरु मन्त्र', 'सत्याग्रह' आदि इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। इनमे हिन्दुओं के पूज्य पण्डों का अच्छा खाका खींचा गया है।

इस संग्रह में प्रेमचन्द की भाषा भी खूब निखर गई है। मदिरा का वर्णन देखिए, 'सफेद बिल्लौर के गिलास में बर्फ और सोडावाटर मे अलंकृत अरुण-मुखी कामिनी शोभायमान थी।' (दीक्षा) और देखिए—'उषा की लालिमा में, ज्योत्स्ना की मनोहर छटा में, खिले हुए गुलाब के ऊपर सूर्य की किरणों मे चमकते हुए तुषार बिन्दु में भी वह सुषमा और शोभा न थी, श्वेत-हिम-मुकुटधारी पर्वतों में भी वह प्राण-प्रद शीतलता न थी, जो विन्नी अर्थात् विन्ध्येश्वरी के विशाल नेत्रों में थी।' (भूत)

इस संग्रह की अनेक कहानियाँ मुस्लिम संस्कृति के चित्र हैं—'क्षमा', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात', 'लैला'। प्रेमचन्द की शैली इस विषय

के सर्वथा अनुकूल है। कुछ उर्दू साहित्य के संबन्ध से, कुछ गान्धीजी के हिंदू मुसलिम एकता के पाठ से प्रेमचन्द मुसलिम संस्कृति को बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं।

'शतरंज के खिलाड़ी' बड़े ऊँचे दर्जे की कहानी है। इसमें लखनऊ के नवाबी राज्य का सन्ध्या-काल दिखाया गया है। लेखनी में वही ओज और मार्मिकता है जो हम हसन निजामी की पुस्तक 'मुगलों के अन्तिम दिन' में देखते हैं:—'वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रङ्ग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफीम की पीनक ही के मजे लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिसरी और उबटन का रोजगार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं; तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फकीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गँजीफा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें जोरों के साथ पेश की जाती थीं।

'बाबाजी का भोग', 'मनुष्य का परम धर्म' और 'गुरु-मन्त्र' प्रेमचन्द की शैली में भारी परिवर्तन की द्योतक हैं। इनमें भावों के उतार-चढ़ाव, घटना-चक्र-व्यूह, मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ आदि कुछ

नहीं। यह जीवन की केवल झाँकी मात्र हैं। निबन्ध या स्केच से इनका निकट संबन्ध है। इन्हें अँग्रेजी में Slices from life—जीवन के टुकड़े कहते हैं। जैनेन्द्रजी ने इसी कला को अपनाया है। कभी-कभी तो यह कहानी निबन्ध मात्र होती है। इनका न कुछ आदि है, न अन्त है। केवल वास्तविक .जीवन का एक टुकड़ा काटकर आपके सामने रख दिया गया है।

'मानसरोवर' में इस नवीन शैली की कहानियाँ यथेष्ट संख्या में हैं : 'मुफ्त का यश', 'बड़े भाई साहब', 'गृह-नीति', 'ठाकुर का कुआँ', 'झाँकी', 'आखिरी हीला', 'गिला' इत्यादि। इन कहानियों का अन्त बड़ा स्वाभाविक है। जीवन में मृत्यु, आत्महत्या आदि ही नाटक का-सा अन्त नहीं होते। पहली कहानियों में प्रेमचन्द ऐसा अन्त बहुधा पसन्द करते थे।

'मानसरोवर' के प्राक्कथन में प्रेमचन्द ने कहा है, 'अब हिन्दी गल्प-लेखकों में विषय और दृष्टिकोण और शैली का अलग-अलग विकास होने लगा है। कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन अब उतनी लम्बी-चौड़ी नहीं है। उसमें कई रसों, कई चरित्रों और कई घटनाओं के लिए अब स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग का, आत्मा की एक झलक का, सजीव, स्पर्शी चित्रण है।......'

इस शैली की कहानियों में 'गिला' बड़ी सुन्दर है। यह चरित्र-झाँकी है।

यह स्पष्ट है कि 'मानसरोवर' के रचना-काल में प्रेमचन्द अपनी कला के एक-छत्र अधिपति थे। 'गो-दान' ने यह भावना और भी दृढ़ हो जाती है। 'अलग्योझा', 'ईदगाह' आदि कहानी उनकी कला के शिखर पर हैं। यह लगभग उसी कोटि की हैं जिसमें शरत् बाबू की कहानी 'बिन्दो का लड़का' है, वही स्वाभाविकता, वही सरलता, कथा में वही धारा-प्रवाह।

हिन्दी के दुर्भाग्य से जब प्रेमचन्द की कला इतनी :परिपक्व,

उनकी शैली इतनी प्रौढ़ और उनकी भाषा इतनी रसमय हो गई थी, उनका निधन हो गया।

(५)

कलाकार अपने स्वतन्त्र जग की सृष्टि करता है। एक क्षण के लिए प्रेमचन्द के आदर्श संसार को देखिए।

यहाँ कृषक-वृन्द ऋण और कष्ट से मुक्त, सुखी और स्वतन्त्र हैं। पूस की रात में वह आग के सामने तापते हुए पूर्वजन्म की कथा कहते हैं और सुख के गाने गाते हैं। जमींदारों का और सरकारी कर्मचारियों का मान मर्दन हो चुका। वह किसी अतीतकाल की कथा के समान मिथ्या और दूर है। यह राम-राज्य का पुनरागमन है।

मध्यवर्ग उदार, दयापूर्ण और सुसंस्कृत है। इनके जीवन पर भारत की प्राचीन संस्कृति की छाप है। यहाँ भारत की आत्मा भारतीय कलेवर में दीखेगी। पश्चिम के भौतिक रंग का यहाँ नाम-निशान भी नहीं।

यदि इस संसार में कोई रईस है, तो बिड़ला-बन्धुओं की भाँति दानी और दयालु है।

इस जग में कोई झगड़ा, कलह और अशान्ति नहीं। यहाँ हिन्दू और मुस्लिम एक दूसरे की संस्कृति को स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते हैं।

यहाँ आपको सब प्रकार के जीव मिलेंगे। दफ्तरी, घोबी, बौड़म, ओझे, किसान, कहार, चमार, किन्तु सब नीयत के साफ़ और हृदय के उदार।

मुस्लिम संस्कृति के यहाँ आपको बड़े उच्च आदर्श दीखेंगे। किस प्रकार दाऊद ने अपने पुत्र की हत्या करनेवाले को क्षमा कर दिया, तैमूर का पाषाण-हृदय कैसे हमीदा के विचारों से पिघला, लैला के संगीत से किस प्रकार फारस का राजकुमार मोहित होकर फकीर हो गया।

क्या यह जग केवल कल्पना-मात्र है ? साम्यवाद के भक्त इस जग में विश्वास नहीं करते। यह कल्पना मात्र है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने प्रेमचन्द को मूक जनता का प्रतिनिधि कहा है। प्रेमचन्द का क्षेत्र ग्रामीण-जग और किसानों का हृदय है। यहाँ वे अद्वितीय हैं। किन्तु मध्य और कुलीन वर्ग के भावों की जिस गहराई में रवि बाबू अथवा शरत् बाबू पैठते हैं, वह प्रेमचन्द का क्षेत्र था ही नहीं।

मनुष्य में प्रेमचन्द का अटल विश्वास है। अपने संसार में अनेक उदार-चित्त मनुष्यों को उन्होंने बसाया है। अवसर पड़ने पर यह सब बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। 'बड़े घर की बेटी', 'पच-परमेश्वर' अवसर पर कोई नीचा नहीं रहता।

इस प्रकार के चित्रण के लिए स्वयं अपने पास विशाल हृदय होना चाहिए। यही प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विभूति है।

कामायनी

'प्रसाद' की 'कामायनी' हिन्दी के अमर काव्य-ग्रन्थों में अपना आसन लेगी, यह बात उसे एक बार पढ़ते ही मन में उठती है।

'कामायनी' में 'तितली' और 'कामना' से भी रुपहला स्वरूप लेकर इनकी कल्पना प्रकट हुई है। 'प्रसाद'जी उच्च-कोटि के कवि हैं; गल्पकार, उपन्यासकार अथवा नाट्यकार उस श्रेणी के नहीं, उनके नाटकों अथवा कहानियों का विशेष आकर्षण उनकी काव्यमय कल्पना है। 'कामायनी' में इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा पूर्ण रूप से प्रस्फुटित हुई है। यहाँ गीति और प्रबन्ध-काव्य का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ है।

'कामायनी' का विषय आदि पुरुष मनु और मानव-इतिहास की प्राचीनतम घटना जल-प्लावन की प्रलय है। 'साकेत' और 'प्रिय-प्रवास' की कथा से भी ऊँचा यह कथानक उठना है। यहाँ मनुष्य के

निगूढ़तम भावों की गुत्थियाँ तो नहीं, किन्तु विश्व-सृजन का झिलमिल अरुणोदय और आदिम युग का इतिहास अवश्य मिलेगा। Dante की Divine Comedy और Milton के Paradise Lost मे भी कुछ इसी प्रकार का कथानक-गौरव है।

इस कथानक के कुछ अंश ऋग्वेद, छान्दोग्य उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि से लिये गये हैं। कथा-शृङ्खला मिलाने के लिए कवि ने स्वतन्त्र कल्पना का भी यथेष्ट प्रयोग किया है। मनु ने श्रद्धा के सहयोग से देवों से भी विलक्षण एक नवीन संस्कृति का अनुष्ठान किया। मनु इतिहास के पहले विप्लववादी थे। जीवन से असन्तुष्ट होकर वह कहते हैं :

'देव न थे हम और न ये हैं,
सब परिवर्तन के पुतले ;
हाँ—कि गर्व-रथ में तुरङ्ग-सा ;
जितना जो चाहे जुत ले।'

इड़ा के प्रभाव से मनु ने बुद्धिवाद का आश्रय लिया और राज्य-स्थापना की ; किन्तु अधिक सुख की खोज में दुःख ही मिला :

'इड़ा ढालती थी वह आसव जिसकी बुझती प्यास नहीं।'

अथवा,

'देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।'

कथा में एक प्रकार के रूपक का भी आभास मिलता है। श्रद्धा और मनन के सहयोग से मानवता का विकास हुआ। बुद्धि के विकास से मानव ने नवीन पथों पर सुख की खोज की। फिर भी वह पूछता है :

'तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी,
जीकर क्या मरना होगा !
देव ! बता दो, अमर वेदना
लेकर कब मरना होगा ?'

कथानक का प्रवाह पहले सर्गों में धीमा है। जैसे चिन्ता, आशा, काम, लज्जा आदि स्वतन्त्र गीत-काव्यों की रचना कवि ने की हो। इन छन्दों को बार-बार और फिर-फिर पढ़ने की इच्छा होती है :

'ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली ;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प-सी मतवाली !'

किन्तु पिछले भाग में कथा का स्रोत फूट निकला है, और उसकी गति तीव्र हो गई है। छन्द-परिवर्तन आदि से और सजग कल्पना से 'प्रसाद'जी ने कथा को कभी नीरस नहीं होने दिया।

'कामायनी' में तीन चरित्र-चित्र हैं, मनु, श्रद्धा और इडा। मनु के चरित्र में भारी हलचल हैं ; उनकी वाणी में बहुधा 'प्रसाद' की वाणी प्रतिध्वनित हुई है। मनुष्य-मात्र के वह प्रतिनिधि हैं। श्रद्धा के चित्रण में सबसे अधिक अनुभूति है। इड़ा के चरित्र की रेखाएँ सुस्पष्ट हैं, यद्यपि उनमें अधिक रङ्ग नहीं भी भरा गया।

मनु कहते हैं :

'तुम कहती हो विश्व एक लय है, मैं उसमें
लीन हो चलूँ ! किन्तु धरा है क्या सुख इसमें ?
क्रन्दन का निज अलग एक आकाश बना दूँ,
उस रोदन में अट्टहास हो तुमको पा लूँ।
फिर से जलनिधि उछल बहे मर्यादा बाहर।
फिर झञ्झावत हो दण्ड प्रगति से भीतर बाहर।
फिर डगमग हो नाव लहर ऊपर से भागे।
रवि शशि-तारा सावधान हों, चौंकें, जागें।'

आदिपुरुष के चरित्र में जिस गांभीर्य और शान्ति की आशा की जा सकती है वह यहाँ नहीं। मनु वास्तव में आधुनिक मानव के ही प्रतिनिधि हैं। इन्होंने बुद्धिबल से नवीन संस्कृति निर्मित की, किन्तु इन्हें शान्ति और सुख नहीं मिला।

श्रद्धा के चित्र में उन्होंने सुन्दर रङ्ग भरे हैं :

> 'मसृण गांधार देश के, नील
> रोम वाले मेषों के चर्म
> ढक रहे थे उसका वपु कान्त
> बन रहा था वह कोमल वर्म।'
>
> 'नील परिधान बीच सुकुमार
> खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
> खिला हो ज्यों बिजली का फूल
> मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।'
>
> 'आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
> बीच जब घिरते हों घनश्याम,
> अरुण रवि-मंडल उनको भेद
> दिखाई देता हो छवि धाम।'

श्रद्धा कहती है :

> 'यह आज समझ तो पाई हूँ
> मैं दुर्बलता में नारी हूँ
> अवयव की सुन्दर कोमलता
> लेकर मैं सबसे हारी हूँ।'

इड़ा मनु को बुद्धिवाद की ओर अग्रसर करती है :

> 'हाँ तुम ही हो अपने सहाय ?
> जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसकी नर शरण जाय,
> जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय,
> यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
> तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्मलीन।'

श्रद्धा में एक प्रकार की कोमलता है, इसके विपरीत इड़ा कुछ कठिन और कठोर है। श्रद्धा का आत्म-समर्पण पूर्ण हुआ, इड़ा मनु को नियम की मर्यादा में रखना चाहती है। अन्त में विजय श्रद्धा की ही हुई।

प्रकृति कथा के पृष्ठ-भाग में निरन्तर उपस्थित रही है। कथानक का चतुर्थ पात्र उसे हम कह सकते है। पात्रों की मन-स्थितियों के अनुसार ही प्रकृति में वसन्त, उषा अथवा प्रलय के चीत्कार प्रकट होते हैं।

जब मनु और श्रद्धा का मिलन हुआ, तब प्रकृति का स्वरूप भी कोमल है:

'मधुमय वसन्त जीवन वन के,
बह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में।'
'क्या तुम्हें देख कर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थीं।'

मनु और इड़ा के मत-भेद के साथ ही प्रकृति में भी विप्लव हुआ:

'उधर गगन में क्षुब्ध हुईं सब देव-शक्तियाँ क्रोध भरी,
रुद्र-नयन खुल गया अचानक, व्याकुल काँप रही नगरी।'

अन्त में पाण्डवों की भाँति सत्य की खोज में जब मनु और श्रद्धा गिरि-पथों पर विचरते हैं, तब प्रकृति का रूप शान्त और गम्भीर हो गया है:

ऊर्ध्व देश उस नील-तमस में
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी।
पथ थककर है लीन, चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी।'

किन्तु अधिकतर आपको प्रकृति का रुपहला और सुनहला रूप ही पसन्द है:

'उषा सुनहले तीर बरसती
जय-लक्ष्मी-सी उदित हुई।'

अथवा—

'धवल मनोहर चन्द्र बिम्ब से
अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ ;
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ ।'

'प्रसाद'जी की भाषा सरल, प्रवाहमयी और कोमल है। मिठास उसका विशेष गुण है। शान्त प्रकृति, उषा, वसन्त और प्रेम के संगीत के लिए वह अधिक उपयुक्त है। प्रकृति का विकराल स्वरूप उसे अधिक पसन्द नहीं। 'मधु', 'मधुमय', 'मदिर', 'मधुर' आदि विशेषण आपको विशेष प्रिय हैं; 'स्वप्निल', 'धूमिल', 'फेनिल' आदि शब्दों का बाहुल्य है। गीति-काव्य में ऐसी मधुर भाषा ख़ूब खपती है।

आपके शब्द-चित्र बड़े सुन्दर बनते हैं :

'खुलीं उसी रमणीय दृश्य में
अलस चेतना की आँखें ;
हृदय-कुसुम की खिलीं अचानक
मधु से वे भीगी पाँखें।'

'किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द।'

'भुज-लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए।'

उपमाएँ आपकी अधिकतर प्रकृति से ली गई हैं, विशेषकर रात्रि से :

'नीरव निशीथ मे लतिका सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?'

आपकी भाषा ध्वनि-प्रधान भी है। यहाँ निरन्तर भ्रमर-गुंजार, पक्षियों का कलरव, लहरों का गान, झरनों का कलकल नाद सुन पड़ते हैं। यह सब मीठी और कोमल ध्वनियाँ हैं। जल-प्लावन और सिन्धु की हिलोर भयावह शब्द भी करती हैं, किन्तु 'प्रसाद'जी को उधर कुछ आकर्षण नहीं। आपके कान कहीं और ही लगे हैं :

'कङ्कण क्वणित, रणित नूपुर थे,
हिलते थे छाती पर हार,
मुखरित था कलरव, गीतों में
स्वर-लय का होता अभिसार।'

प्रलय की आपने नीरवता ही देखी :

'दूर दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान;
नीरवता-सी शिला चरण से
टकराता फिरता पवमान।'

वंशी की ध्वनि भी आपको पसन्द है :

'स्वर का मधु निस्स्वन रन्ध्रों में
जैसे कुछ दूर बजे बंसी।'

अथवा—

'वह ध्वनि चुपचाप हुई सहसा
जैसे मुरली चुप हो रहती।'

आपको सुरधनु-से चमकीले रंग बहुत प्रिय हैं—नीले, लाल, सुनहले। इन चटकीले रंगों के कारण आपके काव्य में आलोक-सा है :

'संध्या घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग विरंगी छींट,
गगन - चुम्बिनी शैल - श्रेणियाँ
पहने हुए तुषार किरीट।'

किन्तु नीला रंग आपको बहुत ही प्रिय है। 'कामायनी' के कुछ ही पन्नों में इसका आभास होगा। कहीं-कहीं तो एक ही पृष्ठ में कई बार इसका वर्णन है :

या—

'माया के नीले अंचल में
आलोक बिन्दु-सा झलता है।'

इसी प्रकार असितकुमार हाल्दार को भी नीला रंग बहुत प्रिय है। 'प्रसाद'जी और भी कुछ कारणवश असित हाल्दार का स्मरण दिलाते हैं। दोनों ही उच्च वर्ग की संस्कृति के कलाकार हैं। यहाँ मधु और मादक की भरमार है। दोनों ही हमें उन मुगल कलाकारों का स्मरण दिलाते हैं। जिनके चित्रों में कोमलता और सुकुमारता के साथ-साथ विलास की झलक थी :

'सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग।'

'प्रसाद'जी जीवन को कर्मक्षेत्र मानते हैं। प्रेम और श्रद्धा से जीवन सफल हो जाता है। ज्ञान और तप दोनों में ही नीरसता है। सेवा को आप तप से बढ़कर समझते हैं। तपस्वी के प्रति आप कहते हैं :

'एक तुम, यह विस्तृत भूखण्ड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद ;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़-चेतन का आनन्द।
अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते तुच्छ विचार।
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म-विस्तार।'

× × ×

'समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पदतल में विगत विकार।'

'दया, माया, ममता, लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास ;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिए खुला है पास।'

इड़ा का ज्ञानवाद जीवन की पहेली सुलझाने में असफल रहा। आगे चलकर 'प्रसाद' जी ने ज्ञान के शुष्क क्षेत्र का चित्र भी खींचा है,

'प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है
सुख-दुख से है उदासीनता ;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि-चक्र, जिसमें न दीनता।'

× × ×

'यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती,
बुद्धि, विभूति सकल सिकता-सी
प्यास लगी है ओस चाटती।'

'न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते ;
इस निदाघ मरु में, सूखे-से
स्रोतों के तट जैसे जगते।'

'कामायनी' में जीवन का एक बड़ा मनोहारी चित्र है :

'यह देखो रागारुण है जो
उषा के कन्दुक-सा सुन्दर ;
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।'

'शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ,
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ।'

'इस कुसुमाकर के कानन के
अरुण पराग पटल छाया में ;
इठलातीं, सोतीं, जगतीं ये
अपनी भाव भरी माया में ।'
'वह संगीतात्मक ध्वनि इनकी
कोमल अँगड़ाई है लेती ;
मादकता की लहर उठाकर
अपना अम्बर तर कर देती ।'

× × ×

'यह जीवन की मध्य भूमि है
रस-धारा में सिंचित होती ;
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पन्दित होती ।'

माया के इस रंगीन जाल से निकलना कितना कठिन है, यह स्वयं कवि ने शायद अनुभव किया था ।

पन्त की भाँति 'प्रसाद'जी भी कहते हैं कि जीवन सुख के ताने-बाने से बना है :

'अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख-दुख बँधते, एक डोर हैं ।'
'...कैसे सुलझें उलझीं सुख-दुख की लड़ियाँ !'

किन्तु कवि का भावुक हृदय जीवन के दुःख से ही अधिक प्रभावित होता है । बार-बार कवि का हृदय दुःख-भार से हाहाकार कर उठता है । मनु के स्वर में स्वयं 'प्रसाद' का स्वर मिला है :

'जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के ;
आने दो कितनी आती हैं
बाधाएँ दम संयम बन के ।'

अथवा—

'आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्थिति रेखा से
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।'

मनुष्य कठोर कर्म-चक्र में फँसा है :

'कर्मचक्र-सा घूम रहा है
यह गोलक बन नियति प्रेरणा,
सबके पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नई एषणा।
श्रममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल प्रवर्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।'

'प्रसाद'जी की कविता में दुःखवाद है, किन्तु विद्रोह नहीं। इस कर्म-भार को आप सहर्ष सम्हाल लेते हैं :

'कर्म-यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;
इसी विपिन में मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।'

संसार के सभी बड़े कवि जीवन के दुःख से ही अधिक द्रवित हुए हैं। इस देश और युग की परिस्थितियाँ देखते हुए यह दुःखवाद और भी स्वाभाविक लगता है। 'प्रसाद'जी इस पीड़ा के भार से अधीर होकर विप्लववादी नहीं बने। कला के रंगों को उत्तरोत्तर गाढ़ा कर उन्होंने सन्तोष कर लिया।

'कामायनी' में श्रव्य काव्य के अनेक गुण हैं। इसमें रस, माधुरी, कल्पना, भावुकता, विचार-प्रौढ़ता सभी मिलेंगे। अनेक पंक्तियाँ स्मृतिपट पर अङ्कित हो जाती हैं :

'तारा बनकर यह बिखर रहा
क्यों स्वप्नों का उन्माद अरे !
इस विराट आलोड़न में, ग्रह
तारा बुद्बुद्-से लगते ।'

जीवन की जटिलता, उसका आकर्षण, उसकी पीड़ा सबकी यहाँ झाँकी मिलेगी। साथ ही कवि की कल्पना रङ्गीन पङ्ख लेकर बहुत ऊँची उठी है। हिन्दी-काव्य का इतिहास लिखते समय 'कामायनी' को बहुत ऊँचा स्थान देना होगा। मध्य वर्ग की कला इन परिस्थितियों में इससे अधिक बल और माधुरी नहीं बटोर सकती।

अनामिका

पन्तजी ने 'युग-वाणी' में 'अनामिका' के कवि की स्मरणीय छन्दों में स्तुति की है :

'छन्द बन्ध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अमन्द, रजत निर्झर-सी नि:सृत—'

इस श्रद्धांजलि की हिन्दी के इस तेजस्वी कवि के प्रति आवश्यकता भी थी, जिससे उसका हृदय अकृतज्ञता के भार से क्षुब्ध न हो उठे।

पिछले वर्षों में कवि 'निराला' के मौनप्राय रहने से मन में यह आशङ्का हो रही थी कि कीट्स की भाँति कहीं उनकी प्रेरणा का दीपक भी आलोचकों ने न बुझा दिया हो ! 'अनामिका' और 'तुलसीदास' के सर्वाङ्ग-सुन्दर दर्शन से हिन्दी जनता को बहुत सन्तोष होगा। इधर आप 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' में कुछ नवीन प्रयोग कर रहे हैं।

'निराला' हमें अनायास ही ब्राउनिंग का स्मरण दिलाते हैं। कविता की वही अजस्र टेढ़ी-मेढ़ी धार, रूढ़ि के छन्दों की उपेक्षा, काव्य के संगीत को जीवन की मग्न ताल से मिलाने का प्रयास।

'अनामिका' में अनेक नई-पुरानी कविताएँ हैं, सन् '२३ और '२४ से लगाकर '३८ तक के प्रयास। इन सबका हमारे ऊपर यह प्रभाव पड़ता है कि भावों की बाढ़ को कवि ने भरसक रोका है। उसकी कविता संयम और शासन भार से दबी है। किन्तु कभी-कभी उसके सधे कण्ठ का स्वर भी उमड़ पड़ा है और रोके नहीं रुका।

'निराला' सर्वप्रथम शिल्पी हैं। उनकी कविता से हमें अखण्ड किन्तु संयत और शासित शक्ति का भान होता है। 'निराला' ने हिन्दी में नये मुक्तक छन्दों को सफलता पूर्वक निबाहा है। स्वयं आपके शब्दों में :

'वही तोड़ बन्धन
छन्दों का निरुपाय—
अर्ध विकच इस हृदय कमल में आ तू
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह।'

आपकी भावना मानो प्रत्यंचा की भाँति कसी तनी रहती है। पन्तजी के कथनानुसार स्फटिक शिलाओं से इस शिल्पी ने कविता का प्रासाद गढ़ा है।

'निराला' जन-साधारण के कवि नहीं, वह अंग्रेजी कथन के अनुसार 'कवियों के कवि' हैं। आपके काव्य का प्रधान गुण चिन्तन है। कल्पना विद्युत् की भाँति बीच-बीच में चमक जाती है। मुक्तक छन्दों में संगीत की ताल भंग हो जाती है, यद्यपि उनकी अपनी तरंग-मालाएँ उमड़ा करती हैं। कथा के प्रवाह में पुन छन्द-संगीत और भी स्वतन्त्र हो जाता है। 'सेवा-प्रारम्भ' में हम कभी-कभी भूल जाते हैं कि यह कविता है :

'राम की शक्ति-पूजा' अपने शब्दाडम्बर से 'प्रिय-प्रवास' का स्मरण दिलाती है।

'निराला' हिन्दी काव्य में क्रान्तिकारी शक्ति हैं। टेकनीक में ही नहीं, विचार-विन्यास में भी 'निराला' क्रान्ति के वाहक हैं :

'तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की निकलो फिर,
गंगा-जल-धारा!'

अधिकतर 'निराला' के विषय कविता और छन्दों से संबन्धित हैं, किन्तु मनुष्य के कठोर जीवन और प्रकृति-बाला के रूप का आभास भी हमें निरन्तर आपकी कृति में मिलता है। आधुनिक हिन्दी काव्य का चिर-प्रिय-सखा दुःखवाद भी हमें यहाँ मिलता है :

'रोग स्वास्थ्य में, सुख में दुख, है अन्धकार में जहाँ प्रकाश,
शिशु के प्राणों का साक्षी रोदन जहाँ वहाँ क्या आश
सुख की करते हो तुम, मतिमन्द!'

कवि की पीड़ा का आधार ठोस जीवन है, यह दुःख-विलास मात्र नहीं। कवि ने इस विडम्बना से मुक्ति का संदेश भी सुनाया है :

'घन निष्ठुर पीड़न से तुम नव जीवन
भर देते हो, बरसते हैं दृग घन!'

आपके नेत्र अतीत की ओर नहीं, भविष्य की ओर लगे हैं।

'अनामिका' में अनेक प्रगतिशील कविताएँ हैं। 'दान', 'उद्बोधन', 'तोड़ती पत्थर', 'सहज' आदि।

यह भारतीय जन-समाज के कठोर जीवन की निर्मम झाँकी हमको देती है। इन कविताओं में जीवन का दारुण सत्य है, साथ-साथ आशा का सन्देश भी :

'तत्काल तोड़ दे रूढ़ियों के जकड़े हृदय-कपाट,
छेड़ दे कर-कर कठिन प्रहार—'
'उन्वार गावें नूतन स्वर, नव कर दे दे ताल,
चतुर्दिक् छा जाए विश्वास।'

मनुष्य को आपने अविकल समता का राग सुनाया है :

'मानव मानव से नहीं भिन्न,
निश्चय हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न ;
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर—'

'अनामिका' में हमें प्रकृति का अभिनव दर्शन भी मिलता है। रूप-माधुरी हमें 'निराला'जी के काव्य में मिलती है, किन्तु आप उसके स्वामी हैं, दास नहीं। आपके कण्ठ से मीठे गीत उमड़ते हैं, किन्तु आपको उनके प्रति कोई विशेष मोह नहीं :

'ये किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें।'

अथवा, आप सान्ध्य-वधू का चित्र खींचते हैं :

'बीत चुका शीत, दिन वैभव का दीर्घतर
डूब चुका पश्चिम में, तारक - प्रदीप - कर
स्निग्ध शान्त दृष्टि सन्ध्या चली गई मन्द-मन्द
प्रिय की समाधि ओर, हो गया है रव बन्द
विहगों का नीड़ों पर, केवल गंगा का स्वर
सत्य ज्यों शाश्वत सुन पड़ता है स्पष्टतर—'

किन्तु शक्ति के इस उपासक कवि को अपनी रुचि का विषय ज्वालामय 'ज्येष्ठ' में मिलता है :

'घोर-जटा-पिंगल मंगल हे! योगि जन-प्रिय!
धूलि-धूसरित, सदा निष्काम!'

प्रकृति का यह तेजस्वी रूप आपको आकर्षित करता है :

'ठहरो झुलसाते हुए [illegible],
[illegible] ज्यों जलती हुई भू—'

मिठास आज हिन्दी कविता में बहुत है। बहुत ज्यादा मिठास स्वास्थ्यप्रद भी नहीं होती। 'निराला' के काव्य में पच्चीकारी यथेष्ट मात्रा में है :

नाचती क्षीण-कटि नटी नवल,
नृत्य पर मधुर-आवेश-चपल।'

किन्तु केवल पच्चीकारी में ही उलझ कर आप नहीं रह जाते। आप अपनी कमजोरियाँ जानते हैं :

'शुष्क हूँ—नीरस हूँ—उच्छृंखल—'
'वहाँ एक यह लेकर वीणा दीन
तन्त्री क्षीण—नहीं जिसमें कोई झंकार नवीन,
रुद्ध कंठ का राग अधूरा कैसे तुझे सुनाऊँ !'

किन्तु आप अपनी शक्ति भी जानते हैं। कविता-प्रेयसी से आप कहते हैं :

'अगर कभी देगी तू मुझको कविता का उपहार
तो मैं भी तुझे सुनाऊँगा भैरव के पद दो-चार !'

'तेरे सहज रूप से रँग कर
झरे गान के मेरे निर्झर,
भरे अखिल सर,
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार !'

हमें हर्ष है कि हिन्दी के इस तरुण तपस्वी कवि को अपनी शक्तियों पर इतना अधिकार है और इतना आत्म-विश्वास उसके मन में है। उसकी प्रतिभा के इस मध्याह्न से हिन्दी कविता फले-फूलेगी।

———

पन्त की प्रगति

१.

पल्लविनी

'पल्लविनी' कविश्रेष्ठ पन्त की 'युगान्त' तक की चुनी हुई एक सौ कविताओं का संग्रह है। आज जब पन्त की कविता में युगान्तर-कारी परिवर्तन हो रहा है, यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनके अतीत छायावादी जीवन की रूपरेखा को विस्मृत न कर दें और हिन्दी कविता के इतिहास में छायावाद के स्थान को याद रक्खें।

ब्रजभाषा का काव्य एक समाज-विशेष के लिए रचा गया। उस समाज के क्षयग्रस्त होने पर भी हमारे कवि अपना पुराना रटा पाठ दुहराते रहे। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने आधुनिक हिन्दी कविता को युग के अनुरूप भाषा-दान दिया, किन्तु इस काव्य के कोमल शिशु प्राणों में अधिक स्पन्दन न आ सका। पन्त के आगमन ने इस काव्य में नये जीवन, प्राण और बल का संचार किया।

जब पन्त ने काव्य-जीवन में पैर रक्खा, वह भारतीय राष्ट्र की जाग्रति का युग था। सन् '२० के सत्याग्रह आन्दोलन को भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई का पहला कदम समझना चाहिए। इस समर की प्रतिध्वनि हमें 'परिवर्तन' में मिलती है।

आज पूँजीवाद संकट-काल में पड़कर अपनी अन्तिम साँस खींच रहा है और शोषक और शोषित वर्गों की अन्तिम लड़ाई के पल निकट आ रहे हैं। अतएव हमारी साहित्यिक शक्तियाँ भी वर्ग-संघर्ष के चक्र में पड़ बँट रही हैं। जो कलाकार वर्ग-संस्कृति के हिमायती हैं, वे अब भी जीवन की विषमताओं से साहित्य को बचाकर रखने के पक्ष में हैं। जो नव संस्कृति के निर्माण में सहायता दे रहे हैं, उनकी वाणी में नये स्वर और ताल हम सुनते हैं।

भारतीय स्वाधीनता का संग्राम विश्व-स्वाधीनता के संग्राम का

ही एक अङ्ग है। जब यह संघर्ष तीव्रतम होता है तो उसकी प्रेरणा छायावाद की परिधि में नहीं समा सकती। वह 'युगवाणी', 'बंगदर्शन' और 'कुकुरमुत्ता' का प्रश्रय खोजती है।

'पल्लविनी' में हमे छायावादी पन्त के पूरे जीवन का इतिहास लिखा मिलेगा—परिपाटी के काव्य में उनकी कुशलता और कारीगरी, उनका कल्पना-विलास, गम्भीर चिन्तन, नवीन ध्वनियों का सृजन—विशेषकर प्रकृति के अभिनय रूप का मनन, इस रूप-विलास के प्रति कौतूहल और विस्मय का भाव और हृदय से निकली श्रद्धांजलि।

कवि पन्त में भाव-पक्ष की आरंभ से ही कमी है। वह बौद्धिक कवि हैं। 'युग-वाणी' में बुद्धि-पक्ष और भी तीखा हो गया है। 'पल्लविनी' मे भावना की कमी को अतिरञ्जित कल्पना और सङ्गीत ने छिपा रक्खा है। 'पल्लविनी' में हम पन्त को मुख्यतः प्रकृति के कवि के रूप में ही पाते हैं। इसका एक अपवाद 'परिवर्तन' है। 'युगान्त' की अन्तिम कविता 'बापू के प्रति' एक नये दृष्टिकोण की सूचना है। कवि की प्रेरणा अब प्रकृति से मानव की ओर मुड रही है। 'युग-वाणी' मे भी कवि की दृष्टि 'गगा की साँझ' की ओर उठी है, किन्तु यह साँझ 'सोने' की न होकर 'ताँबे' की है।

छायावादी पन्त की कुछ विशेषताओ को हम देख सकते हैं। वह रात के कवि हैं। उनके काव्य मे सूर्य का प्रकाश न होकर चाँदनी का झिलमिल आलोक, छायालोक की अनोखी दीप्ति, अन्धकार की प्रगाढ़ कालिमा और स्वप्नो का धुँधलापन मिलेगा। सूर्य के दर्शन हमें उषा सन्ध्या के समय मिलेगे जब रश्मियाँ अँधेरे के साथ अभिसार करती हों। इस वातावरण में विहङ्गों का गान कवि ने खूब ध्यान से सुना है। स्वय कवि का गान विहङ्ग सदृश है :

> 'है वर्ण नीड़ मेरा भी जग उपवन में,
> मैं, खग सा फिरता नीरव भाव गगन में,
> उड मृदुल कल्पना पंखों में, निर्जन में,
> चुगता हूँ गाने बिखरे तृन में, कन में।'

'स्वप्न' कवि का प्रिय विषय है। 'पल्लविनी' में इस विषय पर अनेक कविताएँ संगृहीत है। इन कविताओं मे हम पन्त की कल्पना की सुकुमारता और उनके शब्द-चित्रों का अच्छा अध्ययन कर सकते हैं :

'पलक यवनिका के भीतर छिप,
हृदय मंच पर छा छविमय,
सजनि! अलस के मायावी शिशु,
खेल रहे कैसा अभिनय ?'

अथवा

'हिमजल बन तारक पलकों से,
उमड़ मोतियों से अवदात,
सुमनों के अधखुले दृगों में,
स्वप्न लुढ़कते जो नित प्रात,
उन्हें सहज अंचल में चुन चुन,
गूँथ उषा किरणों में हार,
क्या अपने उर के विस्मय का,
तूने कभी किया शृंगार ?'

'युगवाणी' में कला-पक्ष के प्रति कवि उदासीन है, 'पल्लविनी' ठीक इसके विपरीत है। यहाँ कवि ने अपनी कल्पना के कोमल रेशमी तारों को सहेज-सहेजकर रक्खा है और उनके रंग-बिरंगे चमकीले पट बुने हैं। उसकी भाषा साँचे मे ढली और उसकी ध्वनियाँ सर्वत्र संगीतमय हैं। 'बादल' मे गति, उमंग और अभिनव स्फूर्ति है :

'भूमि गर्भ में छिप विहग से,
फैला कोमल, रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में,
सेते साँस, छुड़ा जड़ पंक;
विपुल कल्पना से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अंक

हम फिर क्रीडा कौतुक करते,
छा अमत्त उर में निःशंक।
कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते
मत्त मतगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते ...।'

कभी-कभी पन्त की भाषा संस्कृत-भार से आक्रान्त हो उठी है, किन्तु शब्दावली की दीनता वह कभी स्वीकार नहीं करती। 'ग्राम्या' में पन्त की भाषा सरल, सहज, वाचाल रूप लेकर प्रकट हुई है और इस प्रकार प्रगतिगामी पन्त के सिर का एक बड़ा आरोप मिट गया।

'पल्लविनी' के कवि का विचार-दर्शन है कि जग में सुख-दुःख परस्पर मिले-जुले हैं और इसके कुछ आर-पार नहीं सूझता :

'जीवन में धूप छाँह,
सुख दुख के गले बाँह,
मिटती सुख की न चाह,
अमिट मोह माया।'

कहीं-कहीं कवि के हृदय पर गहरे विषाद की कालिमा जम गई है जो छुटाये नहीं छुटती:

'जग के निद्रित स्वप्न सजनि! सब
इसी अन्धतम में बहते,
पर जागृति के स्वप्न हमारे,
तुम हृदय ही में रहते।'

× × ×

'अह, किस गहरे अन्धकार में
डूब रहा धीरे संसार,
कौन जानता है, कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न असार!'

'परिवर्तन' में कवि के हृदय पर छाई व्यथातु मुलनाद कर उठी है और उसकी कल्पना वर्त्तमान से अतीत के वैभव की तुलना कर मलिन-वसना बनी है :

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात!
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अन्धकार अज्ञात।

यह पराजय का भाव अब कवि की प्रेरणा से निकल चुका है, क्योंकि अब उसकी कल्पना न अतीत में वास करती है, न अन्तर्मुखी होकर अपने में ही घुट रही है। वह समझने लगा है कि हमारे समाज के वर्गसंघर्ष की प्रतिक्रिया-स्वरूप एक नई संस्कृति बनेगी ही जिसमें शोषण और वर्गों का अन्त हो जायेगा। यह एक ऐतिहासिक-क्रिया है जिसे हम रोक नहीं सकते, इसमे जल्दी या देर हम कर सकते हैं।

भाव कर्म में जहाँ साम्य हो सतत;
जग-जीवन में हों विचार जन के रत।
ज्ञान वृद्ध निष्क्रिय न जहाँ मानव मन,
मृत आदर्श न बन्धन, सक्रिय जीवन।

रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणि वर्ग में मानव नहीं विभाजित।
धन-बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण,
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।
जहाँ दैन्य-जर्जर, अभाव-ज्वर पीड़ित,
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित।

'पल्लविनी' आधुनिक हिन्दी काव्य के बढ़ने योग की एक अमर निधि है। यह हमें स्मरण दिलाती है कि किस प्रकार छायावाद ने द्विवेदी-युग के शिशु काव्य में प्राण फूंके, उसे छन्द दिया और मान-मनुहार और संगीत सिखाया। जब छायावाद में ही इस रोग के चिन्ह

प्रकट होने लगे, पन्त ने 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' लिखकर हिन्दी-काव्य को नया जीवन प्रदान किया और उसे अपनी दीर्घ यात्रा में एक मंजिल और आगे बढ़ाया। यह 'पल्लव' से 'ग्राम्या' तक पन्त की साहित्यिक प्रगति का इतिहास है।

२

युगवाणी

'युगवाणी' कवि पन्त के साहित्यिक जीवन में एक पुराने युग के अन्त और नये के आविर्भाव की सूचना है। 'युगवाणी' से पूर्व की रचना का नाम 'युगान्त' इसी दृष्टि से सार्थक है। स्वयं 'युगान्त' में युग के अन्त की कोई सूचना प्रकाश रूप से न थी। केवल 'बापू के प्रति' कविता कवि के बदलते दृष्टिकोण की परिचायिका थी। कवि की प्रेरणा 'युगान्त' में सजग दीपशिखा सी प्रज्वलित है, किन्तु अन्तिम कविता 'बापू' में वह प्रकृति के अभिनव रूप-विलास को तज मानवी समस्याओं की ओर झुक रही है।

'युगवाणी' की कविताएँ नवीन दिशा में एक प्रयास हैं। 'युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न' और 'गीत-गद्य' इन शब्दों में निरहंकारी कवि ने अपनी पुस्तक का परिचय दिया है। 'युगवाणी' की कविताएँ उत्तम भावना-रहित हिम-सी शीतल ठंडी हैं। इसका कारण है कवि का संयमशील बुद्धिवादी दृष्टिकोण। यह कोई नई बात नहीं। पन्त सदा से कल्पनाशील चिन्तन-प्रधान कवि रहे हैं। भावना की अपेक्षा कल्पनाविलास ही उनका प्रधान गुण है। कल्पना के रेशमी तानों-बानों से ही 'पल्लव' और 'युगान्त' के रंगीन पट बुने गये हैं। 'पल्लव' के पन्त के लिए 'नवीन' ने कहा था : " 'शैली' की आग पन्त में कहाँ ?" यद्यपि 'पल्लव' में पन्त की तरल लावा-सी कविता 'परिवर्तन' भी है। 'युगवाणी' में पन्त की कल्पना ने वैराग्य ले लिया है और उनके संगीत की गति धीर-गम्भीर है; चिन्तन और मनन का यह आधिपत्य उनके और किसी ग्रंथ में नहीं मिलता।

कवि का यह तापस-रूप गृही-विलासी पाठकों को नहीं रुचा। किन्तु 'युगवाणी' एक प्रयोग है। कवि अपनी पुरानी लीक त्याग नया पथ खोज रहा है।

'युगवाणी' के विरुद्ध एक आरोप यह है कि अमर साहित्य 'युगवाणी' न होकर 'युग-युग की वाणी' होता है। किन्तु जीवित-साहित्य में युग की प्रतिध्वनि सतत रहती है। कालिदास और शेक्सपियर के युग का पुनर्निर्माण हम उनके काव्य की सहायता से करते हैं। युग की प्रतिध्वनि तो काव्य में मिलेगी ही। भावना, कल्पना और चिन्तन गुण यदि काव्य में हैं, तभी वह अमर होगा।

'युगवाणी' की कमजोरी यह है कि कवि ने दर्शन अपना विषय बनाया है, और यह विषय कविता की गति में अवरोध पैदा करता है। जहाँ कवि ने जीवन का कोई लघु अंग अपनाकर उस पर अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है, वहाँ उसकी रचना चमक उठी है। 'युगवाणी' में अनेक उस श्रेणी की कविताएँ हैं। 'चींटी', 'झिल्ली', 'दो लड़के', 'मानव-मन', 'गंगा की साँझ', 'झंझा में नीम' आदि, जिनकी महत्ता रूढ़ि के आलोचक भी मानते हैं। किन्तु इन कविताओं का रूढ़ि-मुक्त संगीत, इनकी रूप-रेखा और चित्र-भाषा एक नवीन दृष्टिकोण और दृष्टि दान का फल है:

आरंभ में ही कवि कहता है।

> 'खुल गये छन्द के बन्ध,
> प्रास के रजत पाश,
> अब गीत मुक्त,
> औ' युगवाणी बहती अयास !'

'अनामिका' के कवि के प्रति पुष्पांजलि में यही बात दुहराई गई है:

इन पंक्तियों में स्वयं एक उद्दाम वेग, गति और शक्ति भरी है।

यह नवीन गति-प्रवाह और संगीत हमें 'युगवाणी' में सर्वत्र मिलते हैं :

'मर् मर् मर् मर्
रेशम के स्वर भर,
घने नीम दल
लम्बे, पतले, चञ्चल
श्वसन-स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल-मिल उठते प्रति पल !'

'युगवाणी' के शब्द-चित्र भी कोमल अंग से नहीं बने। यह चित्र यथार्थ, सच्चे और मार्मिक हैं। कवि कहता है :

'आओ, मेरे स्वर में गाओ।
जीवन के कर्कश अपस्वर !
मेरी वंशी में लय बन जाओ।'

'जीवन के कर्कश अपस्वर' 'युगवाणी' में निरन्तर प्रतिध्वनित हैं :

'सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमकीली,
फीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली-पीली—'

अथवा—

'पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कङ्कर, पत्थर
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक सुन्दर।'

कवि जगत् की रूप-माधुरी और विलास से मुख मोड़ रहा है, और विश्व की विराट् कुरूपता को अपना रहा है। इसी प्रकार अंग्रेजी के कवि मेसफ़ील्ड ने कहा है कि विश्व में सभी टूटी फूटी, दुर्बल-अशक्त, रूपहीन वस्तुएँ उसके गीत का ध्येय बनें !

'युगवाणी' की पृष्ठ-भूमि में साम्यवाद का विशाल पट है। 'मार्क्स

के प्रति', 'भूत दर्शन', 'साम्राज्यवाद', 'समाजवाद-गान्धीवाद' आदि कविताएँ गम्भीर मनन और चिन्तन का फल हैं। भविष्य में यह 'टेक्स्ट-बुकों' में शायद रक्खी जायें। किन्तु आज का शिक्षित हिन्दी-समाज इन कविताओं को ग्रहण करने में असमर्थ है। बच्चन ने इन्हें सुनकर पन्तजी से कहा था कि उनके सिर में दर्द हो गया। पन्तजी आज कविता-पाठकों के हृदय मे दर्द न पहुँचा सिर मे दर्द पहुँचाना चाहते हैं।

जो पाठक साम्यवाद समझते हैं, उन्हें इन कविताओं मे अनन्य रस मिलेगा। इस दिव्य दृष्टि से हीन पाठक इन 'कर्कश अपस्वरों' की अवहेलना करेंगे।

'मार्क्स के प्रति' पन्तजी कहते हैं :

> 'दंतकथा, वीरों की गाथा, सत्य, नहीं इतिहास,
> सम्राटों की विजय-लालसा, ललना स्मित-विलास;
> दैव नियति का निर्मम क्रीड़ा-चक्र न वह अनुकूल,
> धर्मान्धता, नीति-संस्कृति का ही केवल भ्रमजाल।'

मनुष्य का इतिहास वीर पुरुष, सुन्दर स्त्री, नियति का चक्र नहीं चलाते; वह चलता है वर्ग और संस्कारों के संघर्ष से। यह पाठ मार्क्स ने संसार को पढ़ाया और दलित वर्गों को विजय का सन्देश सुनाकर उन्हें प्राण-दान दिया।

पन्त का काव्य आज इस सन्देश को लेकर बढ़ रहा है। हमारे सामूहिक जीवन की आशाओं का वह अगुआ बना है। मधुर वीणा की कोमल तान न पाकर विलासी पाठक असन्तुष्ट और असहिष्णु हो उठेंगे, किन्तु समर-भूमि की ओर बढ़ती सेनाएं उस रण-भेरी की पुकार से उत्फुल्ल होंगी।

३.

ग्राम्या

'ग्राम्या' कवि पन्त की नवीन भाव-धारा का नया मील-चिह्न है। कला का जो रूप 'युगवाणी' में आपने लिया था, उसी का विकास

'ग्राम्या' में हुआ है। 'युग-वाणी' में पन्त दार्शनिक थे ; 'ग्राम्या' में कवि और दार्शनिक का अपूर्व सम्मिलन हुआ है। 'युगवाणी' में कवि का दृष्टिकोण बौद्धिक था , उस नवीन दृष्टि-लाभ से कवि ने भारत के ग्राम्य-जगत् को देखा और अपनी भावना में रँगकर उसे अनूप, अश्रुतपूर्व पाया। 'ग्राम्या' में दर्शन, भावना और कल्पना का संगीत के साथ समन्वय हुआ है।

'पल्लव' में कवि ने कल्पना-प्रधान कविता रची , 'गुञ्जन' में वह स्वरों को साधता रहा , 'युगान्त' में नवीन उल्लास से वह प्रकृति की ओर मुड़ा ; 'युग-वाणी' कला में आनेवाली क्रान्ति की सूचना थी ; 'ग्राम्या' उस बन्धनहीन कला का निरूपण है, किन्तु साथ ही उसमें पुराने काव्य के सभी गुणों का समावेश है।

× × ×

'ग्राम्या' की लगभग सभी कविताएँ दिसम्बर १९३९ से फरवरी १९४०—इन तीन महीनों में लिखी गई हैं। इसका मतलब है कि कवि की प्रेरणा आज तरल, वेगवती और गतिशील है। शीघ्र ही हमें 'ग्राम्या' की समता करनेवाले अथवा और भी प्रौढ़ और विकासमान काव्य-ग्रंथ कवि की लेखनी से मिलने चाहिएँ।

ग्राम्या की भूमिका मे पन्तजी लिखते हैं : 'ग्राम्या' में मेरी 'युगवाणी' के बाद की रचनाएँ संगृहीत हैं। इनमें पाठकों को ग्रामीणो के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम-जीवन मे मिलकर, उसके भीतर से, ये अवश्य नहीं लिखी गई हैं। ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।'

कालाकाकर के लम्बे प्रवास मे पन्तजी ने भारतीय गाँव को शायद बहुत पास से देखा है, क्योंकि 'ग्राम्या' के दृष्टिकोण में केवल बौद्धिक गुण ही नहीं, गहर अनुभूति भी है। भारतीय गाँव का जीवन, सुख-दुःख, राग-द्वेष, वर्तमान और भविष्य 'ग्राम्या' पढ़ते-पढ़ते हमारे आगे आ जाते हैं ; ग्राम्य-जग में प्रकृति का शृंगार, यहाँ के नर-नारी, मेले और उत्सव, गाँव के देवता, गति-रुद्ध जीवन।

'ग्राम्या' में और भी अनेक सामयिक विषयों को कवि ने स्पर्श किया है। भारत-माता, चरखा-गीत, महात्माजी के प्रति, राष्ट्र-गान, १९४०, अहिंसा आदि।

'ग्राम्या' की टेकनीक में हमें अनेक नये गुण मिले। 'ग्राम्या' में कवि की कला यथार्थ की ओर मुड़ रही है। उसकी कल्पना आज जीवन की वास्तविकता से प्रेरणा खोज रही है। ग्रामीण बुड्ढे का चित्र :

'खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर।
उभरी ढीली नसें जाल सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटी,
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमरबेल हो चिपटी।'

पन्त की भाषा में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है। पन्तजी के पास शब्दों का तो सदैव ही अपार कोष रहा है, किन्तु आपके विरुद्ध यह आरोप था कि आपकी भाषा दुरूह संस्कृत से बोझिल है। 'ग्राम्या' में कवि की भाषा ने भी सहज ग्रामीण वेष रचा है :

'ठठरी, उसके सिरा छिपे कब
पाउ टूटने आने देती ?
अह, आँखों में नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती !
बिना दवा-दर्पन के घरनी
स्वरग चली, आँखें आतीं भर,
देख-रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर !'

हम पहले भी कह चुके हैं कि 'ग्राम्या' में पन्त समन्वयक कवि हैं, दार्शनिक नहीं। भविष्य में 'युग वाणी' ग्रन्थों में समाजवाद की टेकम्र-

बुक बनेगी, 'ग्राम्या' नहीं। 'ग्राम्या' में अभिनव प्रकृति-विलास है, जीवन मेले के अनूप रेखा-चित्र, और इसके संगीत में चंचलता, उल्लास और माधुरी।

नक्षत्रों और फूलों की पन्तजी को अपूर्व जानकारी है। प्रकृति-वर्णन में आप सोना, चाँदी, मरकत आदि की अधिक उपमा देते हैं, किन्तु अब आपकी उपमाएँ भी बदल रही हैं। प्रकृति का ग्रामीण चित्र भी पन्तजी ने अङ्कित किया है :

'रोमांचित सी लगती वसुधा
आई जौ गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली।
उड़ती भीनी तैलाक्त गन्ध,
फूली सरसों पीली पीली
लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली।'

'ग्राम्या' मे कवि ने नारी की मुक्ति का सन्देश विशेष रूप से सुनाया है। लगभग एक दर्जन कविताएँ इस विषय पर 'ग्राम्या' मे हैं। 'स्त्री' कविता की तुलना बिहारी के प्रसिद्ध दोहे से हो सकती है :

'यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर, तो वह नारी उर के भीतर।
दल पर दल खोल हृदय के स्तर
जब बिठलाती प्रसन्न होकर
वह अमर प्रणय के शत दल पर।
मादकता जग में कहीं अगर, वह नारी अधरों में सुखकर।
क्षण में प्राणों की पीड़ा हर,
नव जीवन का दे सकती वर
वह अधरों पर धर मदिराधर।
यदि कहीं नरक है इस भू पर, तो वह भी नारी के अन्दर।

वासनावर्त्त में डाल प्रखर
वह अन्ध गर्त में चिर दुस्तर,
नर को ढकेल सकती सत्वर।

'ग्राम्या' के अनेक गीत हिन्दी काव्य के ज्योति-स्तभ बनेंगे, इसका हमे विश्वास है। 'ग्राम देवता', 'ग्राम युवती', 'सन्ध्या के बाद', 'खिड़की से' आदि कविताओं पर किसी भी साहित्य को अभिमान हो सकता है। इन गीतों को हम भारतीय कवि की मुक्त आत्मा का सगीत कह सकते हैं।

महादेवी वर्मा

सुन्दर मखमल के कोमल कालीनों से भरा कमरा, मन्द-मन्द स्मित हास्य बखेरता दीपक, बाहर तारो से भरा अनन्त आकाश, गुन गुन करती कवयित्री की वाणी—ऐसी कल्पना हमारे मन में उठती है। कम से कम श्रीमती महादेवी वर्मा के कविता संसार का तो यह ठीक ही चित्र लगता है।

घुल घुलकर गलनेवाली शमा, मजार पर जलाया दीपक, ओस के आँसू, कोई अनन्त प्रतीक्षा, अनन्य विरह, आपकी कविता का ध्यान करते ही ये चित्र हमारी कल्पना में घूम जाते हैं।

'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य गीत' और 'दीपशिखा' आपकी यात्रा के चरणचिह्न हैं। आपको काव्य साधना में निरत हुए लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं। छायावादी पन्त से प्रभावित 'नीहार' के झिल-मिल उदय से अब तक आपके काव्य का प्रचुर विकास और प्रसार हो चुका है। 'रश्मि' और 'नीरजा' में आपकी काव्य-प्रेरणा पूर्ण वयःप्राप्त और प्रौढ़ हो चुकी है। 'सान्ध्य-गीत' क्या सचमुच आपके काव्य-जीवन का सान्ध्य-गीत होगा ? क्योंकि आपके काव्य की 'दीपशिखा' कुछ मन्द और हलकी पड़ रही है। आपके गीतो मे पच्चीकारी अधिक और

भावना कम हो चली है। आपका मौन अधिकाधिक गहरा और गम्भीर होता जा रहा है। इधर आपका ध्यान देश और समाज की समस्याओं की ओर वरवस खिंचा है और इसका प्रभाव आपके साहित्य पर भी पड़ेगा ही।

आज श्रीमती महादेवी वर्मा का आसन हिन्दी काव्य-जगत् में बहुत ऊँचा है। 'नीहार' के बाद से ही आपकी प्रतिभा का स्वतन्त्र विकास हुआ और अब आपके काव्य के अनेक गुण हमको अनायास ही स्मरण हो आते हैं—अतिरंजित भावना, कल्पना, निराशा, सुन्दर शब्द-विन्यास और रेखा-चित्र, अमिट वेदना, एक अनन्त खोज, इन गुणों की आधुनिक हिन्दी काव्य पर स्पष्ट छाप है।

'नीहार' में श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य की रूप-रेखा वन रही है। एक अव्यक्त पीड़ा इन छन्दों में भी है, किन्तु उसका कोई स्थिर रूप नहीं। कवयित्री के मन में एक हूक उठती है, वह गाने लगती है—इससे कुछ मतलब नहीं क्या? इन गीतों मे एक कहीं कुछ दूर की पुकार है, पवन का एक झोंका, लहरो की एक करवट, तारो का कुछ सन्देश :

'जब असीम से हो जायेगा
मेरी लघु सीमा का मेल—'

इस पुकार को 'छायावाद' कहा गया है। पन्त के 'मौन-निमन्त्रण' में इस छायावाद का सुन्दर, सुगढ़ स्वरूप हमें देखने को मिलता है, इस कविता का तत्कालीन तरुण गीतकारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। चतुर्दिक् इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ी। विस्मय-भाव ही इस छायावाद का प्रधान गुण था :

'झकोरों से मोहक सन्देश,
कह रहा हो छाया का मौन,
सुप्त आहों का दीन विषाद
पूछता हो, आता है कौन ?'

अथवा—

'अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता,
तैरते घन मृदुल हिम के पुञ्ज-से,
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में,
... ...
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास सा वह कौन है !'

श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य मे गीत-भावना प्रधान है। गीति-काव्य अन्तर्मुखी और अहम् में लीन होता है। हिन्दी का आधुनिक गीति-काव्य क्यों अन्तर्मुखी है, इसके कारण देश की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था मे मिलेगे। 'एक बार' में श्रीमती वर्मा भारत की दशा पर क्रन्दन कर उठी हैं :

'कहता है जिनका व्यथित मौन
हम-सा निष्फल है आज कौन ?
निर्धन के धन-सी हास-रेख
जिनकी जग ने पाई न देख,
उन सूखे ओठों के विषाद
में मिल जाने दो हे उदार।
फिर एक बार बस एक बार।'

अतः आपने जीवन की पीड़ा से भागकर गीत में शरण ली, किंतु पीड़ा गीत मे बिंधी ही रही। गीत का निर्झर अवश्य अजस्र वेग से वह निकला :

'चुभते ही तेरा अरुण बान।
बहते कन-कन से फूट-फूट,
मधु के निर्झर से सजल गान।'

आप स्वयं कहती हैं—हिंदी काव्य का वर्तमान नवीन युग गीत-प्रधान ही कहा जायगा। हमारा व्यस्त और वैयक्तिक प्राधान्य से युक्त

जीवन हमें काव्य के किसी और अंग की ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नहीं देना चाहता। आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपने प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं।'

'नीरजा' और 'सान्ध्य गीत' में आपका गायन बहुत मीठा और भीना हो गया है, जैसे गीत दुःख से बोझिल आत्मविस्मृत-सा हो उठा हो। आपने अपने प्राणों की जीवन-बाती जलाई है, किंतु वह मंद-मंद जलती है :

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रतिपल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।
सौरभ फैला विपुल धूप बन ;
मृदुल मोम सा घुल रे मृदु तन ;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित
तेरे जीवन का अणु गल-गल !
पुलक पुलक मेरे दीपक जल।'

इन गीतों का अपना विशेष गुण एक मधुर पीड़ा-भार है जो 'नीरजा' और 'सान्ध्य गीत' में कुछ हद तक अश्रुधार में भीगकर वह चुका है। कम से कम उसकी टीस अब उतनी असह्य नहीं। 'रश्मि' की भूमिका में कवयित्री ने अपने दुःखवाद का कुछ संकेत दिया है—

'सुख और दुःख के धूपछाँहीं डोरों से बुने हुए जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है।...संसार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है, वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, परन्तु उस पर दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।

'इसके अतिरिक्त बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखात्मक समझनेवाली फिलॉसफी से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।

'अवश्य ही उस दुःखवाद को मेरे हृदय में एक नया जन्म लेना पड़ा, परन्तु आज तक उसमें पहले जन्म के कुछ संस्कार विद्यमान हैं, जिनसे मैं उसे पहिचानने में भूल नहीं कर पाती।

'दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है।......विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।'

महादेवी वर्मा के काव्य की यह भावना कवयित्री की सहजप्रिय और बोधगम्य पीड़ा भी हो सकती है जो गीतों को, शैली के अमर शब्दों में, मीठा बनाती है, किन्तु हमें मानना होगा कि आधुनिक हिन्दी काव्य का निराशावाद युग-धर्म से प्रेरित होकर संक्रान्ति-कालीन समाज की वेदना भी व्यक्त करता है।

'रश्मि' के गीतों में यह दुःख पतिङ्गे के समान जल-जल उठता है। उस दुःख की अभिव्यक्ति में एक अधीरता, आतुरता और अस्थिरता-सी है:

> 'मृग मरीचिका के चिर पथ पर,
> सुख आता प्यासे के पग धर,
> रुद्ध हृदय के पट लेता कर'

'नीरजा' और 'सान्ध्य-गीत' में यह दुःखवाद शान्त, स्निग्ध और कोमल रूप धारण कर चुका है। आप कहती हैं:

> 'मुखर पिक! हौले बोल,
> हठीले 'हौले हौले बोल!'

आपका दुःखवाद यहाँ 'नीरजा' में बन्द भौंरे के समान केवल मन्द, मधुर, मत्त गुञ्जन कर रहा है। 'सान्ध्य गीत' के वक्तव्य में आप लिखती हैं—'दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति आर्त्त क्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी

हो सकती है, जिसमें संयम का नितान्त अभाव है, उसकी अभिव्यक्ति नेत्रों के सजल हो जाने में है, जिसमें संयम की अधिकता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की सम्भावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ निःश्वास में भी है, जिसमें सयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती, और उसका प्रकटीकरण निःस्तब्धता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है। वास्तव में गीत के कवि को आर्त्त क्रन्दन के पीछे छिपे हुए संयम से बाँधना होगा तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।'

इस वक्तव्य की सहायता से हम आपके दुःखवाद का इतिहास समझ सकेंगे। क्रन्दन, सजल नयन, दीर्घ निःश्वास, फिर निःस्तब्धता—यह विकास का स्वाभाविक क्रम है।

दीपशिखा के गीतों में भाषा मोती के समान स्वच्छ और निर्मल है, उसके शब्द-चित्र अनायास ही हृदय मथ डालते हैं। किन्तु इस प्रौढ़ काव्य-प्रेरणा के पीछे किसी प्रबल झंझावात का अनुभव भी अवश्य है।

हम श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य को एक अनोखी चित्रशाला के रूप में भी देख सकते हैं। आपके छन्द अधिकतर शब्द-चित्र हैं। आपकी अलंकृत भाषा और प्रकृति-साधना शब्द-चित्रों में ही व्यक्त हुई है। आपके विचारों की अभिव्यक्ति सहज ही रूपक में होती है, क्योंकि आपकी अन्तरात्मा काव्यसिक्त है :

> 'नयन की नीलम-तुला पर मोतियों से प्यार तोला ;
> कर रहा व्यापार कब से मृत्यु से यह प्राण भोला !'

प्रकृति-बाला के अगणित, अनुपम चित्र आपकी कविता मे हैं। इनमे निरीक्षण की मात्रा कम हो सकती है, किन्तु चिन्तन की नहीं। ये चित्र कल्पना-प्रधान हैं। हम आपके प्रकृति-चित्र को एक विशाल तम के पट-रूप में देखते हैं और उस पटभूमि पर झिलमिलाते तारकदीप हैं अथवा चाँदनी की स्मित हँसी, क्योंकि अँधेरा ही आपको प्रिय है :

'करुणामय को भाता है
तम के परदों में आना,
हे नभ की दीपावलियो!
तुम पल भर को बुझ जाना।'

किन्तु,

'तममय तुषारमय कोने में
छेड़ा जब दीपक-राग एक,
प्राणों-प्राणों के मन्दिर में
जल उठे बुझे दीपक अनेक!'

आपकी चित्रशाला में प्रकृति के अनेक रेखा-चित्र दृढ, मुक्त रेखाओं में अंकित हैं :

'कनक से दिन, मोती-सी रात,
सुनहली साँझ, गुलाबी प्रात,
मिटाता रँगता बारम्बार,
कौन जग का यह चित्राधार?
शून्य नभ में तम का चुम्बन,
जला देता असंख्य उडुगन;
बुझा क्यों उनको जाती मूक
भोर ही उजियाले की फूँक?
गुलालों से रवि का पथ लीप
जला पश्चिम में पहला दीप,
विहँसती संध्या भरी सुहाग,
दृगों से झरता स्वर्ण-पराग;
उसे तम की बढ़ एक झकोर,
उड़ाकर ले जाती किस ओर?'

तम के झकझोरों में अपने क्षीण दीपक को अंचल में ढाँपकर बचाने का प्रयत्न कर रही रजनी-बाला—किसी अनन्त परीक्षा में लीन—प्रकृति का यह रूप आप निरन्तर देखती हैं।

श्रीमती महादेवी वर्मा के गीतों का एक बड़ा आकर्षण इनकी किन्हीं अनमोल साँचों में गढ़ी भाषा है। भाषा की दृष्टि से आप आज हिन्दी के किसी भी कवि से पीछे नहीं। पन्तजी की भाषा क्लिष्ट और संस्कृत-भार से आक्रान्त है। 'निराला' के शब्दों में अबाध वेग अवश्य है, किन्तु उनकी भाषा में यह पच्चीकारी नहीं। अन्य कवियों में इस प्रकार चुन-चुनकर मोतियों की जड़ाई नहीं मिलती। भगवतीचरण वर्मा और बच्चन सर्वसाधारण के अधिक निकट हैं। किन्तु इस मधुर निर्झरिणी का मदिर कलकल निनाद अद्वितीय है। यह शब्दों की शिल्पकला आपकी अपनी विशेषता है।

यह भाषा अलंकार-भार से झुकी अवश्य है। किन्तु बड़े चतुर कारीगर के गढ़े ये अलंकार हैं। एक-एक शब्द चुन-चुनकर इस शिल्पी ने सजाया है :

'दुख से आविल, सुख से पंकिल ;
बुद्‌बुद् से स्वप्नों से फेनिल—'

'युग युग से अधीर' कवियित्री की भाषा है। आपके अधिकतर शब्द अमिश्रित संस्कृत से निकले हैं और आपकी ध्वनियाँ सदैव कोमल हैं। हिन्दी-काव्य-परम्परा में बिहारी, देव, केशव और मतिराम इसी श्रेणी के शिल्पी थे। शब्दों के इस मदिर आसव से बेसुध पाठक ध्वनि-चमत्कार में लीन रह जाता है। इन शब्द-चित्रों के पीछे क्या है, वह नहीं पूछता।

महादेवी वर्मा की कविता भावना और कल्पना-प्रधान है। कोई निर्मम बुद्धिवाद इस काव्य की पटभूमि नहीं। कुछ खोजते हुए का भाव निरन्तर इस कविता में है। तड़ित् के समान एक शब्द या वाक्य का आलोक इस काव्याकाश में पल-भर के लिए हो जाता है, फिर वही गहनतम अँधेरा ; और क्षीण दीपक की जुगनू-सी ज्योति में किसी अनजाने प्रियतम की खोज और प्रतीक्षा। चिर विरह और निराशा ही इस काव्य के प्राण और आधार हैं, किन्तु चिर मिलन का भाव भी अनायास ही गीत में पुलक उठता है :

'तुम मुझमें प्रिय ! फिर परिचय क्या
रोम रोम में नन्दन पुलकित ;
साँस-साँस में जीवन शत - शत ;
स्वप्न-स्वप्न में विश्व अपरिचित ;
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?'

'रश्मि' में आप कहती हैं :

'मैं तुमसे हूँ एक, एक हैं
जैसे रश्मि प्रकाश ;
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों
घन से तड़ित् विलास ।'

इस भावना को हम महादेवी का रहस्यवाद कह सकते हैं। साधक की चिर खोज से निरन्तर यह काव्य आप्लावित है :

'पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं।
तम ने धोया नभ - पथ
सुवासित हिमजल से,
सूने आँगन में दीप
जला दिये झिलमिल से,
आ प्रात बुझा गया कौन
अपरिचित, जानी नहीं
मैं प्रिय पहचानी नहीं।'

चिर अतृप्ति की प्यास से यह काव्य आक्रान्त है :

'तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में।'

इस अनन्य साधना के बाद कवियित्री ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मोम के समान गल-गलकर ही साधक जीवन सार्थक करता है

और अपने प्रिय से मिलता है, और मर मिटने में ही चिर-मिलन की निद्रा है :

'तम में हो चल छाया का क्षय,
सीमित की असीम में चिर लय,
एक हार में हों शत-शत जय,
सजनि ! विश्व का कण-कण मुझको
आज कहेगा चिर सुहागिनी।'

इस प्रकार जहाँ आपकी कविता का एक छोर आधुनिक छायावाद को छूता है, दूसरा हिन्दी के भक्त और रहस्यवादी कवियों की काव्य परम्परा को भी। आप हमारी परम्परागत काव्य साधना को नई रूप-रेखा देकर आगे वढ़ाती हैं :

'है युगों की साधना से
प्राण का क्रन्दन सुलाया,

आज लघु जीवन किसी
निसीम प्रियतम में समाया !',

किन्तु समाज की व्यवस्था पर जो आघात शुरू के गीतों मे था, वह वीच में दूर हो गया था और आत्म-विस्मरण का भाव ही उनके काव्य का प्रधान गुण था। आपका काव्य वहिर्जगत् की विषमता भूलकर ब्रह्म मे निलय होना चाहता था, किन्तु केवल अहम् के चतुर्दिक् चक्कर काटकर आपकी प्रेरणा को संतोष न मिल सका। 'वग-दर्शन' उसको वाह्य जगत् की ओर लाया है।

गोदान

साहित्यिक प्रेमचन्द का कोई क्रमवद्ध विकास न हुआ। 'सेवासदन' और 'सप्त-सरोज' की सफलता वह वहुत दिन तक न दुहरा सके। 'प्रेमाश्रम' सजीव कृति थी, 'गोदान' 'प्रेमाश्रम' की और भी याद दिला

रहा है। दोनों के वातावरण मे कुछ समानता अवश्य है: ग्राम्यजगत, दुखी, दारिद्र्य-पूर्ण भविष्य की ओर आशा से देखता हुआ। 'रंग भूमि' में प्रेमचन्द ने अपनी सामर्थ्य से बाहर कार्य उठाया। सभी उन्नतिशील कलाकार एक बार ऐसा बीड़ा उठाते हैं। आल्डस हक्सले (Aldous Huxley) का 'Point counter-point' ऐसा ही विफल प्रयास है। सम्पूर्ण जीवन की गुत्थियाँ कोई एक उपन्यास मे कैसे सुलझा दे? यदि इस प्रयास में प्रेमचन्द सफल हो जाते, तो विश्व-साहित्य के महान कलाकारों मे उनका नाम अवश्य होता। 'कायाकल्प' मे प्रेमचन्द की कला ने पलटा खाया, यद्यपि इसके भी अनेक भागो में वही चिर परिचित रस और सजीवता है। फिर प्रेमचन्द उठते ही गये। 'निर्मला', 'कर्मभूमि', 'गबन'—और अब 'गोदान'। 'कायाकल्प' के बाद उन्होंने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा।

'गोदान' का स्थान प्रेमचन्द की कृतियो मे बहुत ऊँचा होगा। 'गोदान' लिखने मे प्रेमचन्द की कला पूर्ण रूप में जाग्रत थी। घटनाओं पर, मानव-चरित्र पर वही अटल अधिकार। भाषा मे कुछ और भी रस और कविता का आभास आ गया है। ग्राम्य-जीवन के प्रति कुछ अधिक उल्लास दीखा। जैसे हिन्दी की नवीन काव्य-धारा में कुछ वे भी रँग गये हों!

'फागुन अपनी झोली में नव-जीवन की विभूति लेकर आ पहुँचा था। आम के पेड़ दोनो हाथों मे बौर की सुगन्ध बाँट रहे थे, और कोयल आम की डालियों मे छिपी हुई संगीत का गुप्त दान कर रही थी।' (पृष्ठ ३७८)

और

'महुए की डालियों पर मैनों की बरात-सी लगी बैठी थी। नीम और सिरस और करौंदे अपनी महक में नशा सा घोले देते थे।'

(पृष्ठ ४०९)

'गोदान' ग्रामीण-जीवन का चित्र है। प्रेमचन्द आरम्भ मे ही ग्रामीणों के कलाकार रहे हैं। अपने जीवन तक को उन्होंने ग्रामीणता

में रँग डाला था। भारत के ग्राम ही देश की प्राचीन विभूति हैं। किन्तु यहाँ कितनी निर्धनता, दुःख और पीड़ा है?

प्रेमचन्द्रजी के दृष्टि-कोण पर महात्मा गांधी का विशेष प्रभाव पड़ा है। प्रेमचन्द ने राष्ट्रीय आन्दोलन का वास्तविक रूप कला में अमर किया है।

नगर में विलास है, श्री है, पाप है—ग्राम में सरलता है, महत्ता है, दुःख है। प्रेमचन्द ग्राम की ओर मुख मोड़ भारत के आधारभूत प्रश्न सुलझा डालना चाहते हैं।

शरत् बाबू ने भी अपने 'पल्ली समाज' में ग्रामीण-जीवन का दिग्दर्शन कराया है। उनका निष्कर्ष कुछ और ही है। ग्रामों में अनाचार, पाप, क्रूरता, कुटिलता, धूर्तता भरी पड़ी है। यदि इस मृतक-समाज का शीघ्र ही शवदाह न हुआ, तो इसके विष से चारों ओर ही काल के कीटाणु फैल जायेंगे।

शरत् बाबू ने विशेष करके मध्यम श्रेणी के मनुष्यों का वर्णन किया है। प्रेमचन्द निम्न वर्ग के कलाकार और शिल्पी हैं। चरित्र-चित्रण में प्रेमचन्द कुशल हैं, किन्तु शरत बाबू के पात्र बढ़कर आकाश तक पहुँचने-से लगते हैं। 'गोदान' में उस जोड़ का केवल 'होरी' है।

'गोदान' में ग्राम-जीवन के अनेक सुन्दर चित्र हैं। (पृष्ठ ४९९, ५०७) उपन्यास का आरम्भ ही एक ऐसे चित्र से हुआ है। होरी और भोला दोनों ही स्वभाव के सीधे हैं। किन्तु दोनों ही एक दूसरे से पराजित होते हैं। पहला परिच्छेद तो एक सुन्दर गल्प है। ग्रामीणों के झगड़े भी खूब होते हैं। (पृष्ठ ६६) छोटे कर्मचारी किस प्रकार ग्राम का शासन करते हैं, इसके अगणित उदाहरण 'गोदान' में मिलेंगे।

किन्तु प्रेमचन्द का विशेष गुण है ग्रामीण स्वभाव की अचूक सूझ। भविष्य में शायद भारतीय ग्रामों का इतिहास इनके उपन्यास और कहानियों से ही पढ़ा जाय।

पाश्चात्य देशों के उपन्यासकार सफल कहानी-लेखक नहीं होते। 'प्लाट' पर उनका कुछ अधिकार ही नहीं होता। Dickens, Scott,

(२)

Victor Hugo, Balzac तक इस विषय में दोषी हैं। उनके उपन्यासों का गौरव उनके पात्र होते हैं।

किन्तु कहानी का जन्म पूर्व में ही हुआ, अलिफलैला, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, कथासरित् सागर आदि।

रवि बाबू और शरत बाबू दोनों ही चतुर कहानी लेखक हैं। कथानक सहज ही ग्रीष्म की नदी की भाँति अविरल धारा से बहता है।

इसी प्रकार प्रेमचन्द भी कथा के अवयवों को किसी चीनी पहेली की भाँति उलझा सुलझा सकते हैं।

'गोदान' में भी कथा का स्रोत अविरल है। किसी भी एक घटना में पड़कर प्रेमचन्द खो-से जाते हैं। फिर बहुत दूर जाकर कथा का पहला छोर स्मरण कर उठाते हैं।

कभी-कभी भूल भी कर बैठते हैं। मिल जल जाने पर खन्ना तबाह हो गये (पृष्ठ ५१४), यह भूलकर प्रेमचन्द लिख जाते हैं कि मिल में अब भी खन्ना की ही चलती है (पृष्ठ ५४०)। एक बार लिखा है कि सिलिया का बालक दो वर्ष का हो रहा है—सारे ग्राम में दौड़ लगाता है (पृष्ठ ५७९)। चार पृष्ठ बाद ही लिखा कि वह कुछ-कुछ बैठने लगा था (पृष्ठ ५८३)।

किन्तु ऐसी भूलों का कुछ मूल्य नहीं। शेक्सपियर के भी नाटक अनेक छोटी-छोटी भूलों से भरे पड़े हैं।

कथा के ऊपर प्रेमचन्द का पूरा अधिकार है। कभी ग्राम में, कभी नगर में, बड़े-बड़े रईसों में, दीन दुखियों में, उनकी कल्पना स्वच्छन्द चक्कर लगाती है।

'गोदान' की कथा का क्या यही अन्त है? होरी की जीवन-लीला का अवश्य यह अन्त है। किन्तु यहीं क्यों, और आगे क्यों नहीं? अभी तो उनकी कल्पना सजीव थी। क्या मृत्यु का सन्देश पाकर स्वयं उनकी शक्तियाँ ढीली पड़ने लगी थीं? इसी प्रकार Galsworthy ने अपनी मृत्यु से पहले 'Over the River' लिखा था। Chesterton ने

लिखा है कि Pickwick Papers के किसी ने कुछ पृष्ठ फाड़ लिये हैं—ऐसा बालकपन में उनका विश्वास था ! अब भी वे उन पृष्ठों को ढूँढ़ रहे हैं। क्या 'गोदान' के पृष्ठ भी काल ने फाड़ लिये ? अब भी किसी कल्पना के जग में मेहता, मालती, गोबर, सिलिया आदि क्रीड़ा कर रहे होंगे।

Galsworthy ने एक बार Oxford में अपना वक्तव्य देते हुए बताया था कि किस प्रकार उनकी कथा आगे बढ़ती है। वे एक आराम कुर्सी पर कागज़ लेकर बैठते हैं। मुँह मे 'पाइप' रखते हैं। फिर उनकी कल्पना जाग्रत हो उठती है। उनका व्यक्तित्व पात्र में खो जाता है। वह सोचते हैं, अब सोम्ज़ (Soames) उठता होगा...।

यही शायद प्रेमचन्द की कल्पना की भी गति है। होरी के विचारों मे वे तन्मय-से हो जाते हैं (पृष्ठ ५४)। गोबर के मन में सावन के बादलों की भाँति विचार उमड़ पड़ते हैं (पृष्ठ ३७८)।

इस शैली को अब चेतन की धारा (Stream of Consciousness) कहने लगे हैं। पाश्चात्य उपन्यास-कला में यह कथानक, पात्र आदि सबको ले डूबी है। इसके जनक-फ्रॉयड (Freud) आदि मनोविश्लेषण-विज्ञान के आचार्य हैं।

मनोविज्ञान के प्रेमचन्द भी कुशल आचार्य हैं। इस प्रकार की टेकनीक में अच्छे कलाकारों से प्रेमचन्द की तुलना हो सकती है।

(३)

'गोदान' एक प्रकार से 'होरी' की जीवन-कथा है। उसकी मृत्यु होते ही मंच पर पटाक्षेप हो गया। कथानक का तार उसी के चारों ओर लिपटा है—जैसे रेशम के कीड़े के चतुर्दिक् रेशम।

'होरी' का स्थान भारतीय साहित्य मे ऊँचा होना चाहिए। वह जीता-जागता व्यक्ति है। उसके विषय मे प्रेमचन्द कह सकते हैं कि 'होरी' पर उनका कुछ वश नहीं ; वे स्वयं उसके वश में हैं।

प्रेमचन्द के पात्र रक्त-मांस के व्यक्ति होते हैं, कठपुतली नहीं। टैसो (Tasso) ने कहा था कि ईश्वर के समान कवि ही स्रष्टा है।

प्रेमचन्द के पात्र गतिशील होते हैं, स्थिर नहीं, जैसे मालती, मातादीन, खन्ना। 'बड़े घर की बेटी' लिखते समय जो उनकी लेखनी में चमत्कार था, वह अभी तक बना है।

शायद मध्य-वर्ग और उच्च-वर्ग के पात्रों में प्रेमचन्द इतनी सफलता न पा सके। इनको हम विलासी और अकर्मण्य ही पाते हैं। स्त्री का मन भी सदैव प्रेमचन्द नहीं समझ सके। प्रेम के दृश्य तो उनके अधिकतर असफल हैं। किन्तु ग्रामीण किसान का हृदय भारत में गांधी को छोड़कर प्रेमचन्द के बराबर कौन समझ सका है? उदाहरण के लिए लीजिए, होरी, भोला, गोबर, धनिया, सिलिया।

होरी में अनेक अवगुण हैं, किसान की स्वार्थपरता, रसिकता, लोभ। अपने भाइयों को धोखा देकर वह बाँस के रुपये खा जाना चाहता है; किन्तु स्वयं धोखा खाता है। यदि प्रेमचन्द उसे आदर्श और अवगुण-रहित बना देते तो होरी का कला की दृष्टि से इतना महत्त्व न होता। ऐसे निर्दोष जीव पृथ्वी पर नहीं होते।

पहले परिच्छेद में ही वह भोला को ठगना चाहता है, किन्तु उसकी उदारता उसके स्वार्थ पर विजय पा लेती है।

जितने त्याग से यह ग्रामीण दम्पति झुनिया, सिलिया और पुनिया का निर्वाह करते हैं, वह बड़ों-बड़ों के लिए आदर्श-स्वरूप है।

होरी रसिक भी है, भावुक भी। सहुआइन से भी छेड़-छाड़ कर लेता है। गाय के लिए कितना व्याकुल हो जाता है! ग्राम्य-जग में बसन्त-श्री देखकर गुनगुना उठता है—

दातादीन, नोखेराम, पटेश्वरी, झिंगुरी आदि गृध्र की भाँति इस कृषक-समाज के शव को चारों ओर से नोचे खाते हैं।

मातादीन का चरित्र कला की दृष्टि से सुन्दर है। वह निर्मम, कठोर, स्वार्थी, लोलुप युवक धीमे-धीमे बदलकर सिलिया का तप सफल कर देता है।

गोबर अल्हड़, सीधा—नगर के प्रकाश से आकर्षित होकर उधर दौड़ता है, किन्तु हाथ कुछ भी नहीं लगता। पतिंग के समान उसका नशा भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

ग्राम के स्त्री-समाज के कुछ अच्छे चित्र उतरे हैं। धनिया, झुनिया, सिलिया। बादाम की भाँति धनिया ऊपर से कठोर, पर हृदय की कोमल। झुनिया समाज की दुर्व्यवस्था का शिकार। सिलिया जाति की चमार होने पर भी आदर्श सती।

यह ग्राम की स्त्रियाँ लड़ती भी खूब हैं। धनिया और पुनिया का महासमर। फिर धनिया और झुनिया का। जब रण चण्डी हुङ्कार कर उत्तेजित होती है, तो दारोगाजी तक के देवता भागते हैं।

किन्तु प्रेमचन्द के पात्रों के नाम कैसे विचित्र हैं! धनिया, पुनिया, गोबर! गाँव के अनुरूप ही यह सब नाम हैं।

जिस प्रकार झुनिया गोबर से और मालती मेहता से प्रेम (पृ० ७२) की बातें करती है, वह अस्वाभाविक (पृ० १३०) लगता है। इस देश और समाज में स्त्री इस प्रकार अपना संकोच नहीं त्यागती।

मध्य-वर्ग से प्रेमचन्द को कुछ सहानुभूति नहीं। यहाँ उन्हें खन्ना, तन्खा और राय साहब ही अधिक मिलते हैं। मिर्जा खुर्शेद कम। केवल खुर्शेद ही परीक्षा में पूरे उतरते हैं। उनके मन की उदारता और जिन्दादिली कभी नहीं खोती।

मेहता मनुष्य नहीं, आदर्श दानव हैं। उनमें कुछ दोष ही नहीं। इसी प्रकार रिचर्डसन (Richardson) ने एक बार (ग्रैन्डीसन) (Sir Charles Grandison) का चरित्र गढ़ा था। अभी तक उसको

दानव (Monster) कहते हैं। मेहता की सृष्टि उस अनुभूति से नहीं हुई, जो होरी और भोला को सजीव बना देती है।

स्त्री आन्दोलन पर मेहता के विचार रूढ़ि-बद्ध हैं। किन्तु जिस प्रकार वह मालती की परीक्षा लेते हैं, वह अपमानजनक और अमानुषिक है।

मध्य-वर्ग की स्त्रियों में मिसेज खन्ना और मालती दो के ही पूर्ण चित्र हैं। मिसेज खन्ना प्राचीन आदर्शों पर गढ़ी हैं। धीरे-धीरे मेहता के कारण मालती भी उसी ओर झुक जाती है।

मालती को उत्तेजित करने के लिए कथानक में प्रेमचन्द एक जङ्गली लड़की को लाते हैं। यह झाँकी सुन्दर है। यदि फिर भी वह जङ्गली लड़की दीखती, तो पाठक कृतार्थ होते, किन्तु प्रेमचन्द उसको भूल गये। यह घटना कथानक में फिर सम्बद्ध न हुई।

क्या कोई स्त्री ईर्ष्यावश भी ऐसी संकोच रहित बातें कह सकती है, जैसी मालती ने कहीं? (पृ० १३८) कभी-कभी मन में सन्देह उठता है कि प्रेमचन्द स्त्री-हृदय समझते भी हैं या नहीं। किन्तु सिलिया और धनिया भी तो उन्हीं की सृष्टि हैं।

इस वातावरण में सोना और रूपा के उपहार के लिए हम प्रेमचन्द के कृतज्ञ हैं। इस कलह और पीड़ा-भरे संसार में उस रूप के अनुपम दर्शन से नेत्र कृतार्थ हुए। उस बाल-सुलभ सरलता और चपलता में सुधा का-सा स्वाद है।

(४)

जीवन के प्रति प्रेमचन्द का दृष्टिकोण क्या है? जान-बूझकर अथवा अनजाने में ही कलाकार अपने युग और संसार के लिए एक सन्देश लाता है। उसकी कृति में वह निहित होता है।

हमारे समाज की, विशेषकर ग्रामीण समाज की व्यवस्था गलत है। जो गरीब हैं, वे और भी गरीब होते जा रहे हैं, जो अमीर हैं, वे और भी अमीर। किसान कर्ज के बोझ से पिसा जा रहा है। जो

समाज के स्तम्भ हैं, उनमें कूट-कूटकर दुराचार, कठोरता, लोभ और कपट भरे हैं। हरिजनों पर समाज का क्रूर शासन है। नगरों में विलास और विनोद है—सौन्दर्य और स्वच्छता नहीं। ग्राम में ही प्रकृति ने पूरा साज सजा है। ग्राम की ओर लौटो, प्राचीन आदर्शों की ओर लौटो। स्त्री गृह-देवी हो; पुरुष बलवान और निष्ठावान हों। ऐसा कुछ प्रेमचन्द का सन्देश है।

गान्धी प्रेमचन्द के गुरु हैं। उनकी फ़िलॉसफ़ी वास्तविकता के विपरीत है। शायद प्रेमचन्द ग्राम्य-जीवन का उद्धार चरित्रवान और उदार-हृदय कर्मचारियों में देखते हैं। किन्तु व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन से क्या समाज का त्राण हो सकेगा!

इस रोग की दवा कुछ भी हो, रोग प्रेमचन्द ख़ूब समझते हैं। उपचार भी कुछ-न-कुछ निकलेगा ही।

शायद मेहता का दृष्टिकोण प्रेमचन्द का स्वयं अपना भी है; मेहता को वह जितना आदर्श बना सके हैं, उन्होंने बनाया है:

'सब कुछ पढ़ चुकने के बाद और आत्मवाद तथा अनात्मवाद की ख़ूब छान-बीन कर लेने पर, वह इसी तत्त्व पर पहुँच जाते थे कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बीच में जो सेवा-मार्ग है चाहे उसे कर्मयोग ही कहो, वही जीवन को सार्थक कर सकता है, वही जीवन को ऊँचा और पवित्र बना सकता है। किसी सर्वज्ञ ईश्वर में उनका विश्वास न था। यद्यपि वह अपनी नास्तिकता को प्रकट न करते थे, इसलिए कि इस विषय में निश्चित रूप से कोई मत स्थिर करना वह अपने लिए असम्भव समझते थे, पर यह धारणा उनके मन में दृढ़ हो गई थी कि प्राणियों के जन्म-मरण, सुख-दुःख, पाप-पुण्य में कोई ईश्वरीय विधान नहीं है। उनका ख़याल था कि मनुष्य ने अहंकार में अपने को इतना महान बना लिया है कि उसके हरएक काम की प्रेरणा ईश्वर की ओर से होती है। इसी तरह वह टिड्डियाँ भी ईश्वर को उत्तरदायी ठहराती होंगी, जो अपने मार्ग में समुद्र आ जाने पर अरबों की संख्या में नष्ट हो जाती हैं'। (पृष्ठ ५१५)

(५)

प्रेमचन्द का उनकी भाषा के कारण सर्वत्र मान हुआ। उनकी भाषा सरल, स्वाभाविक, मुहाविरेदार होती है। ग्राम्य-जीवन के वर्णन में उसमें एक नवीन स्फूर्ति आ जाती है। आजकल कुछ कलाकार भाषा में बनावटी सरलता लाने का प्रयत्न करते हैं। कुछ काव्यमय, दुरूह और जटिल तक हो जाते हैं। प्रेमचन्द की भाषा अब तक अपना स्वाभाविक पथ लिये थी। किन्तु इस बार उनकी भाषा में एक नया रस और यौवन आ गया है।

एक उदाहरण लीजिए—'वैवाहिक जीवन के प्रभात में लालसा अपनी गुलाबी मादकता के साथ उदय होती है और हृदय के सारे आकाश को अपने माधुर्य की सुनहरी किरणों से रंजित कर देती है। फिर मध्याह्न का प्रखर ताप आता है, क्षण-क्षण पर बगूले उठते हैं, और पृथ्वी काँपने लगती है। लालसा का सुनहला आवरण हट जाता है, वास्तविकता अपने नग्न रूप में सामने आ खड़ी होती है। उसके बाद विश्राममय संध्या आती है, शीतल और शान्त, जब हम थके हुए पथिकों की भाँति दिन भर की यात्रा का वृत्तान्त कहते और सुनते हैं, तटस्थ भाव से, मानो हम किसी ऊँचे शिखर पर जा बैठे हैं, जहाँ नीचे का जन रव हम तक नहीं पहुँचता।' (पृष्ठ ४९)

संस्कृत में कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। रवि बाबू की कहानी या उपन्यास पढ़ने में उनकी उपमाओं का रस कुछ अपूर्व ही मिलता है। उपमा से लेखक की पहुँच और सरलता का पूरा अन्दाज हो जाता है।

'गोदान' में प्रेमचन्द की उपमाएँ और उनके रूपक पुस्तक का एक भारी महत्त्व हैं। मन में एकदम प्रकाश-सा कर देते हैं और कल्पना को उत्तेजित कर देते हैं।

होरी के घर जब अनाज पहुँचा—'रुकी हुई गाड़ी चल निकली, जल में अवरोध के कारण जो चक्कर था, फेन था, शोर था, गति थी

तीव्रता थी, वह अवरोध के हट जाने से शान्त, मधुर ध्वनि के साथ सम, धीमी, एकरस धार में बहने लगी।' (पृष्ठ २४५)

होरी ने सब कुछ खोकर 'हारे हुए महीप की भाँति अपने को इन तीन बीघे खेत के किले में बन्द कर लिया था और उसे प्राणों की तरह बचा रहा था।' (पृष्ठ ५८८)

× × ×

'गोदान' मे प्रेमचन्दजी ने उत्कृष्ट कलाकार के सभी गुण दर्शाये हैं। उनकी शैली प्रौढ़ है। पात्र सच्चे और सजीव हैं। ग्राम्य-जीवन को वे खूब समझते हैं। इनकी रचना में गम्भीरता है, सरसता भी है। 'कायाकल्प' के बाद जो उनका पतन हुआ था, उसका प्रतीकार उन्होंने कर्मभूमि', 'गबन' और 'गोदान' में पूरी तौर से किया।

जैनेन्द्र : उपन्यासकार

तप-विह्वल, खद्दर-भूषित, अहंमन्यता से किञ्चित्मात्र छुए एक युवक कलाकार की मूर्त्ति हमारे मन में उठती है। उसमें सरलता है, उत्साह है, लगन है, विचार मौलिकता है। उच्च कलाकार के उसमें स्वाभाविक गुण हैं। कुछ ही वर्षों में उसने हिन्दी के कहानी-ससार में अपना स्थान सुरक्षित बना लिया है। क्षितिज से उठकर वह नक्षत्र आकाश में ऊँचा पहुँच गया है। क्या है उसका भविष्य ? यह प्रश्न सहज ही मन में उठता है।

अब तक उसके अनेक कहानी-संग्रह—'वातायन', 'एक रात', 'नीलम देश की राजकन्या' आदि और चार उपन्यास निकल चुके हैं— 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी।' आज हम उसके व्यक्तित्व को भूलकर केवल उसके उपन्यासों की 'परख' करेंगे। 'सुनीता' की प्रस्तावना में उपन्यासकार ने लिखा ही है: 'पाठक पुस्तक मे मुझे मुश्किल से पायेगा। यह नहीं कि मैं उसके प्रत्येक शब्द मे नहीं हूँ,

लेकिन पुस्तक के जिन पात्रों के माध्यम से मैं पाठक को प्राप्त होता हूँ, प्रत्येक स्थान पर पात्रों के अनुरूप मेरा रूप विकृत हो जाता है। उन्हें सामने करके मैं ओट में हो जाता हूँ। जैसे सृष्टि ईश्वर को छिपाये है, वैसे मैं भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा हुआ हूँ...'

इन शब्दों के पीछे जैनेन्द्र कलाकार के अनेक गुण छिपे हैं, सरलता, मौलिकता और शब्दों के आडम्बर को चीरता हुआ शॉ सरीखा उनका सुपरिचित अहंभाव।

जैनेन्द्र छोटा पट चित्र पसंद करते हैं। दो-एक मानव-मूर्त्तों को लेकर ही वह गहरे से गहरे जाने का प्रयत्न करते है। 'परख' और 'सुनीता' के कथानक में एक प्रकार की समानता भी है। एक स्त्री के चारों ओर दो पुरुषों के जीवन-स्वप्न केन्द्रित हैं। कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि जैनेन्द्र की कला उपन्यास-कला नहीं, वरन् गल्प-कला है, क्योंकि जीवन के किसी लघु अंग की विवेचना ही उन्हें अधिक पसन्द है। जैनेन्द्र मनुष्य के अन्तर्भावों के विश्लेषण में बहुत दूर तक जाते हैं और उनकी कला में हमें जीवन की जटिलता का भास होता है, इसी कारण उनको सफल उपन्यासकार कहा जा सकता है। कला का कोई एक स्थायी स्वरूप नहीं। युग और परिस्थिति के अनुसार उसके बाह्य रूप में परिवर्तन आ जाता है।

'सुनीता' की प्रस्तावना में जैनेन्द्र स्वयं कहते हैं : 'पुस्तक में मैंने कोई लम्बी-चौड़ी कहानी नहीं कही है। तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में भी है। इसलिए अपने चित्र के लिए बड़े कैनवास की जरूरत मुझे नहीं लगी। थोड़े में सत्य कुछ को क्यों न दिखाया जा सके ?'

जैनेन्द्र का संसार मानो अँधियारे-आलोक में झिलमिल है। एक प्रकार का कुण्ठित, अवसाद भरा वहाँ का वायुमण्डल है। खुले आम,

खेत, हवा इस व्यथा-भार से दवे निम्न श्रेणी के मध्य वर्ग को नसीब नहीं। इस चित्रपट पर जैनेन्द्र के कठिन जीवन की स्पष्ट छाप है। 'सुनीता' मे अवश्य हम कुछ खुली-सी हवा में साँस लेते हैं। नहीं तो 'परख' की काश्मीर-सुषमा में भी हर्ष और उल्लास का नाम नहीं। मध्य-वर्ग के डूबते प्राणी ही निरन्तर इस जग में तैरते-उतराते हैं। कट्टो का भग्न घर—जहाँ अधपकी जामुन पेड़ से अनायास ही पट-पट गिर पड़ती है, सत्य का 'दीवारों से घिरा' अँधेरा कमरा, सुनीता का सन्नाटे-भरा घर—जहाँ पिस्तौल का शब्द भी वायु में गूँजकर खो जाता है, प्रमोद की बुआ की कुण्ठित कोठरी—व्यथा-भार से दबे इस वायु-मंडल के बादल मानो अब बरसे, अब बरसे।

(चत्र बनाने का प्रयत्न हरिप्रसन्न कर रहा है, वही जैनेन्द्र के हृदय की पीड़ा है। शब्दों से उसे व्यक्त करने का वे प्रयत्न कर रहे हैं। 'हिरन के पेट में जो गाँठ होती है, उसे कस्तूरी कहते हैं। उसको लिये-लिये वह भ्रमता रहता है, बेचैन रहता है। उसके लिए वह शाप है। कस्तूरी हमारे लिए है, उसके लिए वह गाँठ है। यह चित्र हरिप्रसन्न के चित्त की गाँठ है।' यह शब्द जैनेन्द्र के लिए भी लागू हो सकते हैं।

जैनेन्द्र के प्लॉट सीधे-सादे होते हैं। वे स्वयं ही कहते हैं : 'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य नहीं है।' वे मानव-स्वभाव की उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझाने में लगे हैं। 'परख' में सत्यधन खोटे निकले। कट्टो से वचन-बद्ध होकर भी वे सुख और वैभव की ओर ढुलक पड़े। शरत्चन्द्र की 'अरक्षणीया' में यही चित्र भयंकर होकर दुःसह, दुखदायी हो जाता है। अरक्षणीया का अपने मुख पर वह टिकली और काजल लगाना कितना असह्य हो उठता है! 'सुनीता' और रवि बाबू के 'घरे-बाहरे' मे विद्वानों ने समता देखी है। एक स्त्री कुछ विचित्र ही ढङ्ग से दो मित्रों को पास लाती है और दूर करती है। 'सुनीता' का पूर्ववर्त्ती भाग उच्च और मँजी कला का नमूना है। पिछले भाग मे कलाकार कथा का प्रवाह ठीक-ठीक निभा सकने पर भी अपने मंतव्य में कुछ

अस्पष्ट है। यह भी कह सकते हैं कि वह अधिक गूढ़ हो गया है। 'त्याग-पत्र' अपने लक्ष्य की ओर अविराम और अचूक गति से गया है। भाग्य की-सी कठिनता और अनवरतता इसके कथानक में है। इस प्रबल प्रवाह का विराम जीवन की चट्टानों पर टकराकर भग्न होने में ही है।

जैनेन्द्र के वस्तु-भाग में कलाकार बहुत सामने रहता है। हमारी आँखों की ओट नहीं रहता। निरन्तर वह अपने पात्रों के भावों का विश्लेषण करने में निमग्न है। 'परख' में अवश्य अनेक नाट्य-दृश्य हैं, जिनमें हम कहानीकार को भूल-से जाते हैं।

जैनेन्द्र के पात्रों में कुछ पुरुष और स्त्री विशेष उल्लेखनीय हैं। सत्यधन और बिहारी, श्रीकान्त और हरिप्रसन्न इस प्रकार आमने-सामने रखे गये हैं कि एक से दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डाल सकें। जैनेन्द्र मनुष्यों का चित्रण करते हैं। देवता और दानवों में इन्हें विश्वास नहीं। 'परख' की भूमिका में आप लिखते हैं : 'सभी पात्रों को मैंने अपने हृदय की सहानुभूति दी है। जहाँ यह नहीं कर पाया हूँ, उसी स्थल पर, समझता हूँ, मैं चूका हूँ। दुनिया में कौन है जो बुरा होना चाहता है—और कौन है, जो बुरा नहीं है, अच्छा ही अच्छा है? न कोई देवता है, न पशु। सब आदमी ही हैं, देवता से कम और पशु से ऊपर।'

फिर भी हमें जैसे लगता है कि सत्यधन अपने आदर्श से गिर गये, जीवन की 'परख' में पूरे नहीं उतरे और बिहारी कुछ अपने से भी ऊँचा उठ गया। सत्यधन की भाँति ही 'परिणीता' में शेखर अपने वचन से डिगकर पथभ्रष्ट हो गया था। दूर आलोक देखकर पतिंगे के समान वह उधर ही तुल पड़ा। बिहारी का चरित्र कट्टो ने खूब समझा है :

'तुममें तो कुछ समझने को है ही नहीं। जो बाहर है, वही भीतर है। भीतर भी वही विनोद का झरना झरता रहता है, जिसका आधा जल आँसू का और आधा हँसी का है, और जिसमें से हर बात आर-पार दिखाई देती है।'

श्रीकान्त और हरिप्रसन्न भी इसी प्रकार एक-दूसरे की स्निग्ध सौम्यता और उग्र तेजस्विता को और भी गहरी दिखाते हैं। श्रीकान्त हमको बंगाल के अमर कलाकारों का अपने नाम के अतिरिक्त भी और कारणवश स्मरण दिलाता है। उसके चरित्र में वही गम्भीर सरलता है, जो हमें बड़े साहित्य के पात्रों में मिलती है। हरिप्रसन्न अग्नि के समान प्रखर और प्रचण्ड है। गौरमोहन का उसे सूक्ष्म रूप समझना चाहिए। क्रान्ति के युग का वह प्रतिनिधि है। वह कहता है : 'आज और कल के बीच में बन्द हम नहीं रहेंगे। शाश्वत को भी छुएँगे। सनातन और अनन्त को भी हम चखेंगे। तुमने बनी-बनाई राह सामने कर दी है। वह हमें कुछ भी दूर नहीं ले जाती। हमारा मार्ग अनन्त है और यह तुम्हारी राह अपनी समाप्ति पर सन्तुष्ट पारिवारिक जीवन देकर हमें भुलावे में डाल देती है।'

इन पात्रों के चित्रण में कठोर मनोवैज्ञानिक सत्य है। इनका स्थान हमारे साहित्य में चिर स्मरणीय होगा। जैनेन्द्र की स्त्री-पात्र कुछ और भी रहस्यमयी और गहन हैं। जैनेद्र ने यह मान लिया है कि स्त्री एक अबूझ पहेली है। उनकी स्त्री-पात्र ऐसे व्यापार कर डालती हैं, जो सहज बुद्धि समझ में नहीं आते।

कट्टो उनकी स्त्री पात्रों में पहेली होती हुए भी गम्भीरता लिये है। बड़ी भावुकता से जैनेन्द्रजी ने 'परख' कट्टो को समर्पित किया है :

'मेरी कट्टो, तुमने कुछ नहीं लिया—यह तो ले लो। यह तुम्हारे ही लिए है। देखो, इन्कार न करो, टालो मत। अपने को तुमने विधवा ही रखा, इसको सधवा बना दो। अपने चरणों में आने दो।...' रवि बाबू ने अपनी एक कहानी में पुराने भारतीय कारीगरों का वर्णन किया है। वे तलवार के एक ही वार में फल ऐसा काट देते थे कि दो टुकड़े होकर भी वह एक-सा लगता था, जब तक कोई उसे हिलाये-डुलाये नहीं। कट्टो के जीवन में हँसी, खेल, विनोद इसी प्रकार भरा था, किन्तु पीड़ा के एक ही प्रहार ने उसका विनोद जीवन से काटकर अलग कर दिया। कट्टो का चरित्र जैनेन्द्र-साहित्य का एक उज्ज्वल

नक्षत्र है। न जाने कहाँ से उसमें इतनी समझ, गम्भीरता और बलिदान-शक्ति आ गई !

'सुनीता' रहस्यमयी है। उसको समझना कठिन है। किन्तु हमारी पूरी सहानुभूति उसके साथ है। नवीनता की खोज के आक्षेप से अपने को बचाते हुए जैनेन्द्र ने कहा था कि 'सुनीता' में भारतीय स्त्री का पातिव्रत पराकाष्ठा को पहुँच गया है। कोई भी बलि उसकी शक्ति के बाहर नहीं। श्रीकान्त उससे कह गये थे कि हरिप्रसन्न को रोकना ही होगा। उसे रोकने के लिए सुनीता ने अपने सतीत्व तक की बाजी लगा दी। स्फिंक्स (Sphinx) के समान रहस्यमयी इस नारी के मन में न जाने क्या मधुर पीड़ा-मिश्रित भाव छिपे हैं ! लौह तीली के समान वह कठिन है और कितनी भी झुक जाने पर नहीं टूटती।

'त्याग-पत्र' केवल एक स्त्री—मृणाल अथवा प्रमोद की बुआ—की जीवन-कथा है। गहरा और कठिन अवसाद मृणाल के मन पर जमा है। भारतीय परिवार की कड़वी और सच्ची आलोचना 'त्याग-पत्र' में है। यह आलोचना सुनने और समझने का साहस सबमें होता भी नहीं। मृणाल की विचार-धारा शायद हम न ठीक-ठीक समझें, किन्तु कितना अभिमान और आत्म-सम्मान उसके मन में है ? कट्टो और सुनीता से भी अधिक वह हमारे मन को विगलित और व्यथित कर देती है।

जैनेन्द्र हिन्दी के क्रान्तिकारी लेखक हैं। रूढ़ियों पर उन्होंने कठिन प्रहार किये हैं। किसी सरल, स्वच्छ, आस्तिक जीवन की खोज में वह निरत हैं। किन्तु शायद उन्हें इस अँधियारे में अपना पथ स्पष्ट नहीं सूझता। 'मन में एक गाँठ-सी पड़ती जाती थी। वह न सुलझती थी, न खुलती थी। बल्कि, कुछ करो, वह और उलझती और कसती ही जाती थी। जो होता था, कुछ होना चाहिए, कुछ करना चाहिए। कहीं कुछ गड़बड़ है। कहीं क्यों, सब गड़बड़ ही गड़बड़ है। सृष्टि गलत है समाज गलत है, जीवन ही हमारा गलत है। सारा चक्कर यह ऊटपटांग है। इसमें तर्क नहीं है, संगति नहीं है, कुछ नहीं है। इससे जरूर कुछ

होना होगा, जरूर कुछ करना होगा। पर क्या-आ ? वह क्या है, जो भवितव्य है और जो कर्तव्य है ?'

अथाह सागर की भाँति जीवन हमारे सामने हिलोर मार रहा है। उसका आर-पार कुछ नहीं सूझता : 'समन्दर है। अपनी नन्हीं-नन्हीं काग़ज की डोंगी लिये उसके किनारे खेलने के लिए आ उतरते हैं। पर किनारे ही कुशल है, आगे थाह नहीं है।' ऐसी अधिकतर हमारी मनोवृत्ति है। जैनेन्द्र आगे बढ़ गये हैं, किन्तु पृथ्वी उनके पैरों के नीचे से भी निकल रही है। 'उस सागर की लहरों का अन्त कहाँ है ? कूल कहाँ है ? पार कहाँ है ? कहीं पार नहीं है, कहीं किनारा नहीं है। आँख के ठहरने को कोई सहारा नहीं है। क्षितिज का छोर है, जहाँ आसमान समन्दर से आ मिला है। वहाँ नीला अँधियारा दीखता है। पर छोर वहाँ भी नहीं है। वहाँ छोर तो हमारी अपनी ही दृष्टि का है, अन्यथा वहाँ भी वैसी ही अकूल विस्तीर्णता है।'

जैनेन्द्र की भाषा के अनेक गुण इस उद्धरण में हैं। सादगी, गान्धी के 'नवजीवन' का स्मरण दिलानेवाली ; काव्य तक उठने की क्षमता ; एक खलनेवाली कृत्रिमता—जैसे कोई अच्छा-बड़ा मनुष्य तुतलाने का प्रयास करता हो। 'किन्तै' 'ठैरा' 'समंदर' हमारे कान को नहीं सुहाते। 'परख' से 'त्याग-पत्र' तक जैनेन्द्र की शैली ख़ूब परिमार्जित हो चुकी है। वह अधिक प्रवाहमयी है और प्रौढ़ावस्था में पदार्पण कर चुकी है। 'परख' में बहुधा काव्य का आनन्द उनकी भाषा हमें देती है ; किन्तु यह स्वाभाविक है कि कथावस्तु में अधिक प्रवाह आने पर गद्यकाव्य की कुछ हानि हो।

'कल्याणी' में जैनेन्द्र ने भारतीय नारी का एक नया चित्र प्रस्तुत किया है। पिछले कुछ वर्षों में जैनेन्द्र की कला ने चिन्ताजनक रुख बदला है। आपकी लेखनी में अतिशय आध्यात्मिकता के कारण अस्पष्टता आ गई है। प्रश्नोत्तर की पद्धति आपको प्रिय होती जा रही है। 'कल्याणी' भी 'प्रस्तुत प्रश्न' का ही एक नया रूप लगता है। इसमें

पात्र कम हैं, प्रश्न और उत्तर अधिक। आशा है, जैनेन्द्रजी फिर शुद्ध कहानी को अपनाने में सफल हो सकेंगे।

भगवतीचरण वर्मा : उपन्यासकार

भगवती बाबू हिन्दी साहित्य की एक प्रतिभा-सम्पन्न शक्ति हैं। आपकी साहित्यिक यात्रा का एक दीर्घ काल गुजर चुका है। इस समय तक आप तीन उपन्यास, दो कहानी-संग्रह और अनेक कविताएँ प्रकाशित कर चुके हैं। आपने एक बृहद् उपन्यास और भी लिखा है जिसके अभी दर्शन नहीं हुए।

किन्तु अभी तक भगवती बाबू की महत् देन हिन्दी संसार को नहीं मिली। आपका व्यक्तित्व बारूद से बना है, उसके संपर्क में आकर रूढ़िवादी विचार और मानदण्ड सब उड़ जाते हैं। कला भगवती बाबू के लिए साधन मात्र है। उसके बाह्य रूप से बढ़कर आप उसके विषय का आदर करते हैं। अपनी कला के माध्यम से भगवती बाबू ने निरन्तर एक विप्लवकारिणी विचार-धारा का प्रचार किया है। यद्यपि असन्तोष की अग्नि का ईंधन ही अब तक आपकी फिला-सफी रही है, तथापि गुरुता और गम्भीरता भी उसमें काफी मात्रा में आ रही है। वर्माजी व्यक्तिवादी हैं, किन्तु आपके व्यक्तित्व में गति-शीलता है और आज हिन्दी साहित्य की जो शक्तियाँ मानवता से विमुख नहीं, उनमें आप अग्रगण्य हैं। हमारा विश्वास है कि भविष्य में शीघ्र ही आपकी कला का महान दान हिन्दी साहित्य को मिलेगा।

वर्माजी के उपन्यास जो अब तक निकल चुके हैं, विभिन्न आवरण पहनकर भी एक ही विचार-धारा के अङ्ग हैं। इन उपन्यासों में सामाजिक मान-बिन्दुओं के प्रति विद्रोह-भावना है। पहला उपन्यास आपका 'पतन' अधिक प्रकाश में नहीं आया। 'चित्रलेखा' में 'पाप' की समस्या पर प्रकाश डाला गया है। जिसे समाज 'भोगी' समझता है, वह

'योगी' से वढ़कर है। 'तीन वर्ष' में ग्लानि की मात्र कुछ और भी वढ़ गई है। हमारे समाज मे धन का मान ही सवसे वढ़कर है और मनुष्य का कुछ भी नहीं, ऐसा कुछ लेखक का इशारा है।

जिस समाज के भगवती वावू अङ्ग हैं, उसके प्रति ये विचार तीव्र और कटु आलोचना हैं। वात यह है कि इस समाज में विशेष प्राणी ही पनप सकते हैं और इस अवस्था में कलाकार के विकास में अवरोध पड़ता है। 'चित्रलेखा' मे भगवती वावू भारत के अतीत युग का चित्रपट अपनाते हैं; 'तीन वर्ष' में आधुनिक मध्य-वर्गीय समाजका। किन्तु मनुष्य दोनों मे समान रूप से परिस्थितियों का शिकार है।

'चित्रलेखा' मे अनातोल फ्रान्स के प्रसिद्ध उपन्यास 'थायस' का कुछ आभास मिलता है। किन्तु कथानक में समानता से अधिक कुछ नहीं। 'चित्रलेखा' में चन्द्रगुप्त मौर्य का भारत हमारी आँखों के सामने घूम जाता है। उपनिपदों की मदद से इस उपन्यास की काया निर्मित है। एक ओर पाटलिपुत्र का विशाल वैभव, दूसरी ओर आश्रम-जीवन का विद्योपार्जन और ज्ञान-संचय।

'चित्रलेखा' में पाप की पहेली पर विचार किया गाय है। 'पाप' की समस्या पर समुचित प्रकाश उपन्यास में पड़ा है, यह नहीं कहा जा सकता। लेखक का मन्तव्य है कि जीवन में पाप-पुण्य कुछ नहीं; परिस्थितियाँ मनुष्य को पापी या पुण्यात्मा वनाती है। न वीजगुप्त पापी है, न कुमारगिरि। वास्तव में पाप से कथानक अछूता है। यदि कोई सजीव व्यक्ति कहानी में है तो वह श्वेतांक है, किन्तु श्वेतांक भी दुर्वल मानव-मात्र है, पापी नहीं।

उपसंहार में महाप्रभु रत्नाम्बर ने पाप की व्याख्या की है, इसे हम लेखक का मत भी समझ सकते हैं:

'संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विपमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेप प्रकार की मनःप्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है—प्रत्येक व्यक्ति इस ससार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मनःप्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने

पाठ को वह दुहराता है—यही मनुष्य का जीवन है। जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है—विवश है। मनुष्य कर्त्ता नहीं है, वह केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ?'

'चित्रलेखा' में कथानक का प्रवाह गम्भीर नदी के समान है, अविरल, एकरस। भाषा सरल, स्निग्ध और सौम्य है। विचारलीन पाठक इन बातों की ओर अधिक ध्यान नहीं देता।

'चित्रलेखा' के पात्र मार्मिक हैं। बीजगुप्त एक महान आत्मा है। उसके जीवन का आदर्श तो उच्च नहीं। किन्तु वह वैभव का पुतला बलिदान के अवसर पर नहीं चूकता। उपन्यासकार की संपूर्ण अनुभूति बीजगुप्त को मिली है और हम उसे लेखक की फिलासफी का दर्पण भी मान सकते हैं। 'चित्रलेखा' के चित्रण में विशेष जटिलता आ गई है। एक अवसर पर वह कुमारगिरि और बीजगुप्त दोनों को ही प्यार करती है और यह कहने में असमर्थ है कि कौन उसके हृदय का हार है। चित्रलेखा और यशोधरा की लेखक ने तुलना की है। 'चित्रलेखा जीवन की हलचल थी, यशोधरा मृत्यु की शान्ति।......एक में मादकता प्रधान थी और दूसरी में शान्ति। चित्रलेखा की मादकता भयानक थी—उसका नृत्य उसकी सजीवता की प्रतिमूर्ति। पर साथ ही यशोधरा की शान्ति अथाह सिन्धु की भाँति थी, जिसमें पड़कर मनुष्य अपने को भूल जाता है।'

वर्माजी जीवन को कर्मक्षेत्र मानते हैं और इसमें विमुखता अकर्मण्यता। आपकी योगी कुमारगिरि के प्रति सहानुभूति नहीं और उसका पतन आपने कुछ द्वेष भाव से दिखाया है। 'चित्रलेखा' का निष्कर्ष यह निकलता है : 'सुख तृप्ति है और शान्ति अकर्मण्यता। पर जीवन अविकल कर्म है, न बुझनेवाली पिपासा है। जीवन हलचल है, परिवर्तन है; और हलचल तथा परिवर्तन में सुख और शान्ति का कोई स्थान नहीं।'

'तीन वर्ष' जीवन से दग्ध मनुष्य की कहानी है। 'चित्रलेखा' का उल्लास और आत्म-विश्वास यहाँ खत्म हो चुका है, किन्तु अकड़ अभी शेष है। रस्सी जल चुकी है, लेकिन बल उसके नहीं गये।

लाभ-प्रेरित समाज का पहले खण्ड में खाका खींचकर लेखक इस नतीजे पर पहुँचता है कि इस मध्य-वर्ग से मद्यप और वेश्याओं में अधिक दया और ममता है।

'तीन वर्ष' रमेश के जीवन से काटकर हमारे सामने रक्खे गये हैं। इनमें दो प्रयाग विश्वविद्यालय में बीते, एक कानपुर में। वर्माजी इस पटभूमि से विशेष परिचित हैं। जो प्रयाग में पढ़ चुके हैं, उनके सामने यूनिवर्सिटी के दृश्य फिर से सजीव हो जायँगे।

'जब रमेश यूनिवर्सिटी में आया, वह निरा बुद्धू था। वह बन्द गले का गबरून का कोट पहिने था जो काफ़ी पुराना था और फटने लगा था। उसकी धोती मोटी थी और घुटने के नीचे का कुछ थोड़ा-सा ही हिस्सा ढाक सकती थी। पैर में एक काला डरबी शू पहिने हुए था जो शायद नया था। सर पर एक पुरानी फेल्टकैप थी जिसने कभी अच्छे दिन अवश्य देखे होंगे, पर जिसपर अब एक मोटी मैल की तह जमी हुई थी। टोपी का चँदवा उठा हुआ था, और एक लम्बी-सी चुटिया उस टोपी के बाहर पीछे की ओर निकली हुई थी।'

अजित के सम्पर्क में आकर रमेश ने दुनिया देखी, वह सभ्य, संस्कृत समाज, जो शासन करती है और सभ्यता और संस्कृति की दावेदार है। प्रभा को हम इस धन पर टिकी सभ्यता की प्रतीक मान सकते हैं। वह रमेश से प्रेम करती है, किन्तु उससे विवाह करने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उसके पास भोग-विलास के साधन उपलब्ध नहीं।

फिर रमेश मद्यपों और वेश्याओं के सम्पर्क में आया। सरोज वेश्या होते हुए भी प्रभा से ऊँची थी। उसने अपने आपको रमेश के लिए मिटा दिया, अपना धन, तन, प्राण उस पर न्योछावर कर दिया। रमेश सरोज को वेश्या नहीं कहता, बल्कि प्रभा को: 'तुम पुरुष का धन

जैसे 'रूपाभ' से पहले के पन्त कोमल रेशमी तारों के स्वप्न-जाल में, 'प्रसाद' अतीत के इतिहास में और महादेवी वर्मा दीप जलाकर किसी अज्ञात प्रियतम की प्रतिक्षा में। यही आधुनिक हिन्दी-काव्य का निराशावाद है।

'बच्चन' नवयुवक कवि हैं। नित नूतन शक्ति वे संचित कर रहे हैं। 'मधुशाला' से 'मधुबाला' और 'मधुबाला' से 'मधुकलश' तक उन्होंने विकास और प्रगति के नियमों को निबाहा। 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' में वह नई दिशाओं की ओर उन्मुख हुए। 'सतरंगिनी' और 'बंगाल का काल' उनके काव्य मे नई दृष्टि की सूचना है।

क्या है हिन्दी के इस तेजस्वी, अभीमानी और कुछ हद तक उच्छृ-ङ्खल कवि के जीवन का इतिहास ? क्या है उसके अदम्य व्यक्तित्व की रूप रेखा ? क्या इस बाहरी वेष-भूषा मे छिपा उसका व्यक्तित्व हम खोज भी सकते हैं ? वह स्वयं कहता है :

'बूझ दुनिया यह पहेली, जान 'कुछ' मुझको सकेगी।'

जब कलाकार कोई व्यक्ति-चित्र बनाता है, तो बाह्य रूप-रेखा कुछ मिलती-जुलती-सी होकर भी विकृत हो जाती है, क्योंकि चित्रकार बाह्य मनुष्य का नहीं, वरन् उसके अन्तर का चित्र खींचने का प्रयत्न करता है। 'बच्चन' के रूखे, बिखरे बाल, कृश गात, किसी घोर तप-साधना में सुखाया शरीर, मस्ती, अलस भाव-भरी आँखे, कुछ चीनियों जैसे सूजे से पलक—उनके मुख का पूरा भाव, उनकी संपूर्ण आकृति मानो 'मधु-शाला' का साकार रूप हो ! किन्तु 'बच्चन' का शरीर व्यायाम से गठा, स्वस्थ और कठिन है।

'बच्चन' के व्यक्तित्व का एक बड़ा आकर्षण है, उनका स्वर। हिंदी की अनेक सभाएँ उनके मधु-गान से मोहित हो चुकी हैं। जब वे अपने गभीर कण्ठ से स्वरों के उतार-चढ़ाव सहित तल्लीनता से अपनी 'पगध्वनि' सुनाते हैं, तो हमें संगीत और साहित्य का सुख एक साथ ही मिलता है। 'बच्चन' की कविता का पूरा आनन्द उसे उन्हीं के मुख से सुनकर मिलता है।

'बच्चन' का जन्म २७ नवम्बर १९०७ को प्रयाग 'चक' में हुआ। १९२६ में वे मुट्ठीगंज गये। आपका नाम 'हरिवंश राय' कम लोग जानते हैं। आपकी माँ आपको 'बच्चन' कहकर पुकारती थीं। यह उचित ही है कि उस स्नेह के नाम से आपने जग में ख्याति पाई। आपकी प्रारंभिक शिक्षा म्यूनिसिपल स्कूलों में हुई। सन् १९२५ में आपने कायस्थ पाठशाला से हाई स्कूल पास किया; १९२७ में गवर्नमेण्ट इंटर कालिज से इंटरमीडिएट और १९२९ में प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० किया। हिन्दी-साहित्य की आपको शुरू से ही अच्छी जानकारी रही है। एम० ए० आपने अंग्रेजी में किया है। सत्याग्रह आन्दोलन शुरू होने पर आपने यूनिवर्सिटी छोड़ दी। गान्धीवाद से असंतोष बढ़ने पर आपका क्रान्तिवादियों से संपर्क हुआ। यहाँ आपको 'प्रेम की सुकुमारता और कर्तव्य की दृढ़ता साथ-साथ मिली।' इस बीच आपने 'चाँद', 'भविष्य', 'अभ्युदय', प्रयाग महिला विद्यापीठ, पायनियर प्रेस और इलाहाबाद मिडिल स्कूल आदि में काम भी किया। आपके जीवन का यह भाग १९३४ के अन्त तक रहा। अब भी आप उस कठिन जीवन की याद कर सिहर उठते हैं।

आपका विवाह १९२६ में हो गया था। नवम्बर १९३६ में आपकी पत्नी का देहावसान आपके जीवन की दारुण घटना है। निरन्तर ही 'बच्चन' को उनकी काव्य-प्रेरणा में स्वर्गता श्यामादेवी ने सहायता दी। उन्होंने 'बच्चन' से कहा था—'तुम्हारी 'मधुशाला' को लोग भूल जायँगे, लेकिन तुम्हारी 'खैयाम की मधुशाला' जीवित रहेगी।' बड़े सुन्दर शब्दों में 'बच्चन' ने अपना 'मधु-कलश' आपकी भेंट किया है: 'यह 'मधु-कलश' दिवगता देवी श्यामा की स्मृति में विशाल विश्व-वृक्ष की डाल में चिरकाल तक बँधा रहे!' 'बच्चन' लिखते हैं—'मेरे जीवन के सबसे अधिक संघर्षमय काल में मुझे जैसी संगिनी की आवश्यकता थी, वह बिल्कुल वैसी ही थीं। उन्होंने अपने को मेरे लिए मिटा दिया।'

१९३४ में 'बच्चन' को अग्रवाल विद्यालय में हिन्दी शिक्षक की

पक्की जगह मिली। अपने जीवन-स्वप्नों में निराश होने के कारण १९३५ में आप क्षय रोग से ग्रस्त हुए। 'इस पार—उस पार' कविता इसी बीमारी की दशा में लिखी गई थी। किसी प्रकार आप अच्छे हो गये; किन्तु जिस महीने आप अच्छे हुए, उसी महीने आपकी पत्नी बीमार हो गईं और फिर चारपाई से न उठ सकीं। समय काटने के लिए बच्चन ने फिर से विद्यार्थी जीवन की शरण ली और एम० ए० और बी० टी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं।

बच्चन अब प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक हैं। आपका विवाह एक उच्चकुलीन पंजाबी महिला से जनवरी '४२ में हुआ। इस प्रकार आपकी जीवन-तरी भटकने के बाद किनारे आ लगी है।

कविता, संगीत और चित्रकला की ओर आपकी रुचि बहुत बचपन से थी। संगीत और चित्रकला के लिए आपको प्रोत्साहन न मिला। कुछ कविताएँ आपने आठवीं कक्षा में लिखी थीं। वे नष्ट हो गई हैं। क्रमानुसार लिखने का कार्य १९३० से आरम्भ हुआ। 'तेरा हार' १९३० की कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह की बहुत-सी कविताएँ आपका देश-प्रेम व्यक्त करती हैं; कुछ भविष्य का भी इंगित करती हैं। किन्तु इस संग्रह में अबके सुपरिचित 'बच्चन' की प्रौढ़ता और काव्य-प्रेरणा नहीं। इस काल की रचनाएँ 'आरम्भिक रचनाएँ' शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित हो गई हैं।

'बच्चन' का गल्प-संग्रह भी अप्रकाशित है। आप सुन्दर गल्प लिखते हैं। 'निशा-निमन्त्रण' के आरम्भ में आपने अपनी एक कहानी दी भी है। युवक-गल्प-सम्मेलन, प्रयाग में आपको अपनी गल्प के लिए प्रथम पुरस्कार मिला था। सुन्दर, स्निग्ध भाषा और भाव-गम्भीरता आपकी गल्प के विशेष गुण हैं। गद्य-काव्य के वह अधिक समीप है।

'मधुशाला' से 'बच्चन' को सर्वप्रथम ख्याति मिली। एक समय मध्य देश में उसका राग इतनी शीघ्रता से लोकप्रिय हो रहा था कि कुछ सामन्तीय मनोवृत्ति के लोग कहने लगे, वह 'गलियों का गाना'

हो जायगी। अब भी 'बच्चन' 'मधुशाला' के कवि के रूप में ही लोक-कल्पना में बसे हैं, यद्यपि उनकी कविता का रूप बदल गया है। इसी मधु-प्रेम के कारण 'बच्चन' हिन्दी में उमर ख़ैयाम के सबसे सफल रूपान्तरकार रहे हैं। एक प्रसिद्ध रुबाई का अनुवाद आप करते हैं :

'उषा ने फेंका रवि-पाषाण
निशा-भाजन में जल्दी जाग
प्रिये! देखो पा यह संकेत
रहे कैसे तारक दल भाग
और देखो तो उठकर, प्राण!
अहेरी ने पूरब के लाल
फँसा ली सुल्तानी मीनार
बिछा कैसा किरणों का जाल!'

'बच्चन' की 'मधुशाला' में इस युग और समाज की पीड़ा निहित है। बाज़ार में बिकनेवाली मदिरा वह नहीं खोज रहे :

'वह हाला कर शान्त सके जो
मेरे अन्तर की ज्वाला।
जिसमें मैं बिंबित-प्रतिबिंबित,
प्रति पल वह मेरा प्याला॥
'मधुशाला' वह नहीं जहाँ पर,
मदिरा बेची जाती है,
भेंट जहाँ मस्ती की मिलती,
मेरी तो वह मधुशाला॥'

कविता उनकी मधुशाला है। यही मधु पीकर वे बेसुध हो जाते है :

'भावुकता अंगूर-लता से,
खींच कल्पना की हाला।
कवि बनकर है साक़ी आया,
भरकर कविता का प्याला॥'

कहीं-कहीं 'मधुशाला' की जीवन से तुलना की गई है। अनेक तृषित जीव प्यास लिये इस मदिरालय में आते हैं, और पलभर रुककर प्यास बुझाने का विफल प्रयास कर चले जाते हैं :

'कितनी थोड़ी-सी यौवन की
हाला, हा, मैं पी पाया !
बन्द गई हो कितनी जल्दी
मेरी जीवन 'मधुशाला' !'

'मधुशाला' मनुष्य-जीवन का चरम लक्ष्य है। अनेक पथ उधर जाते हैं, किन्तु मिलते सब एक ही स्थान पर हैं :

'मदिरालय जाने को घर से
चलता है पीने वाला,
'किस पथ से जाऊँ ?' असमंजस
में है वह भोला-भाला,
अलग-अलग पथ बतलाते सब
पर मैं यह बतलाता हूँ—
राह पकड़ तू एक चला चल,
पा जायेगा मधुशाला ॥'

'मधुबाला' और 'मधु-कलश' की कुछ कविताओं में 'बच्चन' ने अपना आत्म-परिचय दिया है। आप 'निराशावादी' हैं; आपके काव्य में 'वासना का पुट' है; आप पथ-भ्रष्ट हैं—ऐसे अनेक आक्षेप आप पर हुए हैं। उन्हीं का उत्तर आपने इन कविताओं में दिया है। 'आत्म-परिचय' में आपने अपना चित्र खींचा है :

'मैं निज रोदन में राग लिये फिरता हूँ,
शीतल-वाणी में आग लिये फिरता हूँ;
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खँडहर का भाग लिये फिरता हूँ।

× × ×

है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ।'

'पथभ्रष्ट' शीर्षक कविता मे और भी स्पष्ट और मधुर शब्दों में आप का व्यक्तित्व प्रकट हुआ है :

'पार तम के दीख पड़ता
एक दीपक झिलमिलाता,
जा रहा उस ओर हूँ मैं
मत्त मधुमय गीत गाता,
इस कुपथ पर या सुपथ पर
मैं अकेला ही नहीं हूँ,
जानता हूँ क्यों जगत फिर
उँगलियाँ मुझ पर उठाता—
मौन रहकर इस लहर के
साथ सगी बह रहे हैं,
एक मेरी ही उमगें
हो उठी हैं व्यक्त स्वर में।
हैं कुपथ पर पाँव मेरे
आज दुनिया की नज़र में॥'

'बच्चन' विद्रोही कवि हैं। आपका व्यक्तित्व विद्रोह की प्रतिमूर्ति है। यद्यपि नियति के वारों से आपका मस्तक रक्ताभ है, किन्तु अभी तक वह झुका नहीं। अब तक आपके काव्य का विशेष गुण आपका विद्रोह-भाव रहा है। आपके अस्त-व्यस्त बाल और कपड़े, आपकी मधु-पूजा, आपकी भाषा में उर्दू का कुछ पुट, आपका काव्य-संगीत—सभी मे कुछ नवीनता है। आपका अभिमान, आपके काव्य मे वासना की गंध, आपकी स्वच्छन्दता और उच्छृङ्खलता—उसी विद्रोह-भावना के दूसरे रूप हैं।

अब यह आग दबती जा रही है, किन्तु फिर भी राख में अँगारे या मैदान मे दूर चमकती दीप-शिखा की भाँति आपके काव्य में दीखती

है। आपकी कविता की वेषभूषा में अब संयम आ चला है। इस युग के अग्रगण्य-कवियों में अब आपकी गिनती होने लगी है। आपका संगीत अब अत्यंत कोमल और सुकुमार हो गया है :

'है आज भरा जीवन मुझ में,
है आज भरी मेरी गागर।'

× × ×

'है आज गया कोई मेरे
तन में, प्राणों में, यौवन भर
अपने से ही फूट पड़ता
मुझमें लय-ताल सहित मृदु स्वर।'

किन्तु अब भी आप कह उठते हैं :

'रक्त से सींची गई है
राह मन्दिर-मस्जिदों की,
किन्तु रखना चाहता मैं
पाँव मधु-सिंचित डगर में।
पाप की हो गैल पर
चलते हुए ये पाँव मेरे,
हँस रहे हैं उन पगों पर
जो बँधे हैं आज घर में।।'

'बच्चन' के नये गीतों के संग्रह 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकांत संगीत' नाम से निकले। इन गीतों में Elegy का भाव है। 'रात्रि के अंधकार-पूर्ण वातावरण से अपनी अनुभूतियों को रंजित कर' आपने यह गीत तैयार किये हैं। दुःख का भाव जो सदैव 'बच्चन' की कविता में प्रमुख रहा है, इन गीतों में कुछ अधीर और दुःसह रूप में प्रकट हुआ है। अपने लिए आप कहते हैं :

'डर न लगे सुनसान सड़क पर,
इसी लिए कुछ ऊँचा स्वर कर
विलग साथियों से हो कोई पथिक, सुनो, गाता आता है।

अन्धकार बढ़ता जाता है !'
'अन्तरिक्ष में आकुल-आतुर,
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पन्थ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पछी एक—अकेला।
बीत चली सन्ध्या की बेला।'

इन गीतों मे 'बच्चन' ने एक 'साथी' की कल्पना की है। उसी को गुनगुनाकर आपने अपने गीत सुनाये हैं:

'साथी, अन्त दिवस का आया।'

'सतरंगिनी' में नये उल्लास से कवि जीवन की ओर मुड़ा है। 'बच्चन' का जीवन अब प्रशस्त पथ पर आ गया है। किन्तु उनकी कविता का स्वर कुछ मन्द भी पड़ रहा है। 'बच्चन' की कविता का भविष्य हिन्दी संसार उत्सुकतापूर्वक देखेगा। 'बंगाल का काल' मे आप अपनी निजी समस्याओ को भूलकर सामाजिक समस्याओं की ओर मुड़े हैं। आपके काव्य की यह नवीन दिशा बहुत आशाजनक है।

नरेन्द्र

हिन्दी के तरुण प्रगतिशील कवियो में नरेन्द्र का स्थान ऊँचा है। जिस गति से आप आगे बढ़ रहे हैं, उसे ध्यान मे रखते हुए आप शीघ्र ही काव्य-प्रासाद के एक प्रमुख स्तम्भ बन जायँगे।

नरेन्द्र अपने पहले दो प्रकाशन 'शूल-फूल' और 'कर्ण फूल' मे संकलित रचनाओं का अलग संग्रह 'प्रभात फेरी' निकाल चुके हैं। आपकी नई रचनाओ के संग्रह 'प्रवासी के गीत', 'पलाश-वन', 'मिट्टी और फूल' आदि नाम से निकले हैं। आपके नये गीतो में कुछ नया ही सगीत और विचार-विन्यास है। अजगर के समान हमारे समाज क ऊपर आरूढ़ शक्तियों का यहाँ निदर्शन है और कवि की आत्मा का मुक्त-संगीत :

'ज्यों घेर सकल संसार, कुण्डली मार
पड़ा हो अहि विशाल,
आक्रान्त धरा की छाती पर
गुम-सुम बैठा मध्याह्न-काल!' ['ज्येष्ठ का मध्याह्न']

देवली में लिखी कविताएँ 'सोवियेत रूस', 'लाल निशान', 'यकुम मई' लोक-गीतों की सरलता से क्रान्ति की भावना का प्रसार करती हैं। देखिए :

'आओ, सब मेहनतकश साथी—
लिये हथौड़ा और दराँती!
जो मेहनत से पैदा करते
मालिक हैं वह दुनिया भर के!
खोलो लाल निशान!
हो सब लाल जहान!'

नरेन्द्र का मधुर व्यक्तित्व अनायास ही मन उनकी ओर आकृष्ट करता है। आप चिन्तनशील, सहज-भावुक कवि हैं। विश्व-साहित्य के मापदण्ड आपके पास हैं, अतएव अहम् की मात्रा आपमें नहीं-सी है। आप अपने छोटे-से जीवन में ही वेदना-भार से दब चुके हैं, अतः आपके काव्य का भाव-स्रोत भी विकल उमड़ पड़ा है।

'मैं सब दिन पाषाण नहीं था!
किसी शापवश हो निर्वासित
लीन हुई चेतनता मेरी,
मन-मंदिर का दीप बुझ गया,
मेरी दुनिया हुई अँधेरी!
पर यह उजड़ा उपवन सब दिन
बियाबान सुनसान नहीं था!
मैं सब दिन पाषाण नहीं था!'

नरेन्द्र अपने जीवन के इस पीड़ा-भार से मुक्त होने और अतीत

को भूलकर भविष्य की ओर अपने नेत्र उठाने का निरन्तर प्रयास कर रहे हैं।

हिन्दी के सौम्य कवि श्री पन्त का निरन्तर सहवास आपके काव्य और व्यक्तित्व दोनो के लिए श्रेयस्कर सिद्ध हुआ है। आपकी आत्मा की सहज काव्य-धारा मे और भी गति आ गई है और गुटबन्दियों के राग-द्वेप से विलग आप चिन्तन और सृजन के जग में लीन हैं।

नरेन्द्र की आत्मा की सरलता और माधुरी आपके बाह्य रूप में भी प्रकट हुई है।

अपने जीवन के उपःकाल में जो नरेन्द्र ने गीत गाये थे, वह आज विस्मृत-से हैं। 'शूल-फूल' और 'कर्ण-फूल' की पुरानी प्रतियों में वे खो गये हैं। उन कोमल, सुकुमार, गुलाबी गीतों से कवि को अब सन्तोष नहीं :

'खोलो, अवगुंठन खोलो !
प्यासे नयन भ्रमर-से आकुल
कमलनयनि ! दर्शन को व्याकुल,
अधर अधीर मधुर चुम्बन को,
श्रवन तृषित कोकिल-कूजन को
बोलो, मधुमयि कुछ बोलो, !
खोलो, अवगुंठन खोलो !'

संघर्ष की काल-रात्रि में प्रणय के मधुर छन्द भूलकर अब समर-भूमि से कवि ने 'प्रवासी के गीत लिखे' हैं :

'साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई, ओ विरह-व्याकुल प्रवासी ?'

तरुण कवि की प्रेरणा स्वभावतः प्रणय, प्रकृति और शृङ्खलाबद्ध समाज में स्वाधीनता की ओर होती है। नरेन्द्र के अगणित गीत किसी अनजान प्रेयसी के रूप की खोज है :

'आयेगी वह कौन लाज-सी
आज स्वर्ण-हंसों के रथ में ?
किसके लिए आज प्राची ने
बिछा दिये हैं पाटल पथ में ?'
'कौन, कौन, वह स्वप्नागतुक,
जिसके पग-पायल की रुन-झुन
बजी आज मेरे अन्तर में,
हूँ अधीर जिसकी पग-ध्वनि सुन ?'

उषःकाल का वह उल्लास अब समय की गति में खो गया और कवि जीवन की अकथ पीड़ा का बन्दी बना है :

'मधुमास स्वय ही चला गया
आया कैसे वह अनायास !'

यौवन के प्रभात मे कवि ने प्रकृति-बाला को भी रुचिर पल्लव भट किये। इन गीतों के रग चटख और गहरे थे और रेखाएँ पुष्ट, दृढ़ हाथों से खिचीं :

'देखा करता हूँ गगा में उगता गुलाब-सा अरुण प्रात।
यमुना की नीली लहरों में नहला तन, उठती निस रात !
गगा-यमुना की लहरों में, कण-कण में मणि नयनाभिराम
बिखरा देती है साँझ हुए नारगी-रँग की शान्त शाम !'
'स्वर्णिम मयूर-से नृत्य किया करते उपवन में गोल्डमोहर,
कुहका करती पिक छिप-छिपकर तरुओं में रत प्रत्येक प्रहर
भर जाती मीठी सौरभ से कड़वे नीमों की डाल-डाल
चल दल पर लद जाते असख्य नव-दल-प्रवाल के जाल लाल !'

इन गीतों में वसन्त का मिठास और सौरभ था जो अब अदृश्यप्राय है :

'मधुमय स्वर से सिञ्चित मधुवन,
सुरभित नीम, नवल-दल पीपल,

मधु में बौरे आम मञ्जरित,
फैले द्रुम-द्रुम विद्रुम-से दल,'

× × ×

'पिक-श्यामल मँडराते अलिदल।
मुहु-मुहु कुहु-कुहु कुहुकी कोयल।'

किन्तु आज तो कवि कहता है :

'मैं मरघट का पीपल-तरु हूँ
घड़ी-घड़ी यमदूत याम नित
घड़ी-घट-(जिनमें सुधि का जल)—
बाँध रहे हैं तृषित कंठ में
करने आगत का उर शीतल,
पर क्या मेरी प्यास बुझेगी ?
मैं मरघट का पीपल-तरु हूँ।'

फिर भी आप जब कभी गुनगुना उठते हैं :

'मेरा घर हो नदी किनारे।'

अब भी फिर-फिर वसन्त आता है, किन्तु अब कवि का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। वह कोमलता और माधुरी का आँचल छोड़ सत्य और शक्ति की खोज में है :

'पतझर के दिन भी बीत चले,
पल्लव-पुष्पों से वृक्ष भरे।
यों ही मधु के हलकोरों से
हो जायेंगे, फिर बाग हरे।'

× × ×

'पीपल की नंगी डालों पर
आ गईं पत्तियाँ लाल-लाल।
पुर जाती भरते घावों पर
जैसे हल्की मृदु लाल खाल।।

'नव शिशु की अविकच त्वचा-सदृश
खो देंगे पत्र मृदुल लाली,
कुछ हरितपीत, फिर हरितश्याम
होगी तरु की डाली-डाली !'

कवि अब प्रकृति का केवल रुपहला रूप ही नहीं देख रहा, वह प्रकृति मे संघर्ष और पीड़ा का जन्म भी देखता है। इस प्रकार उसकी कल्पना अपनी परिधि बढ़ा रही है और नया बल उसके काव्य में भर रहा है।

नरेन्द्र की कविता में, विशेषकर 'प्रवासी के गीतों' में अकथ पीड़ा भरी है। यद्यपि उसे क्षणभर के लिए ज्योति का भास हुआ, किन्तु तुरन्त ही अन्धकार ने पथ मेट दिया। अब तो चारों ओर उसे निराशा ही दीखती है :

'क्या उस-सा ही कोई निराश, कोई उदास
होगा ऐसा विश्रान्त पथिक,
यह जीवन ही बन गया जिसे अविकल प्रवास !'

यह निराशा नरेन्द्र की कविता का ही नहीं, परन्तु आधुनिक काव्य-मात्र की आत्मा का लक्षण है। इतिहास के किसी युग में मनुष्य और जातियाँ अपनी प्रगति का मार्ग प्रशस्त देखते है, और उनके साहित्य में उल्लास भर जाता है। ऐसा युग ग्रीस मे पेरीक्लीज़ के ऐथेन्स, एलिज़बेथ के इगलैण्ड और कालिदास के भारत में था। हिन्दी के कवियों ने भक्ति में अपनी आत्मा डुबाकर अपनी संस्कृति की रक्षा की थी। इस युग में संस्कृति की रक्षा कठिन दीख रही है, और मनुष्य को अन्धकार में हाथ मारा नहीं सूझ रहा, कवि विकल अपनी तन्त्री सँभालता है, किन्तु गीत उसका उठ नहीं पाता। कवि समाज से विलग नहीं, अतः समाज की पीड़ा उसके गीत में भर जाती है।

नरेन्द्र ने अपने वक्तव्य मे इस निराशावाद का गम्भीर और मार्मिक विवेचन किया है :

'ब्रिटिश सत्ता के स्तम्भ उच्च राज-कर्मचारी, ऊँचे पेशेवाले (बड़े वकील, डाक्टर, इंजिनियर), थोक माल खरीदने और बेचनेवाले व्यवसायी और व्यापारी, राजा और नवाब, बड़े जमींदार और ताल्लुकेदार, ये सब आज के उच्चवर्ग मे शामिल है। इनकी शिक्षा, संस्कार और जीवनचर्या इन्हे इस योग्य नहीं रहने देते कि ये हमारे साहित्य की ओर कृपा-कटाक्ष कर सकें। मध्य-वर्ग, जिसमे बेकार शिक्षितो, कवियों और लेखकों की भी गणना होनी चाहिए, के अन्तर्गत अदालती अहलकारो की श्रेणी से लेकर उच्च-वग की ओर ऊर्ध्वमुख किन्तु अपने सौभाग्य के कारण अंशतः स्वयं सन्तुष्ट सफल सांसारिक आते है। स्पष्ट है कि इन पिछले सांसारिक जीवो के बीच साहित्यिकों के लिए कोई स्थान नहीं। तब क्या कवियो के इन्द्रधनुषी स्वप्नों और आध्यात्मिक आकाश-कुसुमो के गुणग्राहक अकिंचन, पददलित, प्राकृत जनता मे मिलेगे, जब कि हमारी जनता को गला घोटनेवाली गरीबी और गुलामी के भार से साँस लेने तक की फुरसत नही ? . ऐसी अवस्था मे कवियो का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था .. जिनकी दृष्टि अन्तर्मुख थी उन्हें सब 'हालीमैन' के रूप मे दिखलाई पड़े और जिनकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं, उनके सामने 'वेस्टलैण्ड' का प्रसार था।...'

नरेन्द्र स्वय निराशावादी नही है। आप प्रगति में विश्वास करते हैं। 'कला के मदिर का यह पुजारी प्रेम, सत्य, शिव और सुन्दर पर आक्रमण करनेवाले आततायी सर्पों के साथ आमरण संघर्ष में संलग्न है। यह आधुनिक 'लाकून' क्या अपनी और अपनी कविता की रक्षा कर सकेगा ? यह निश्चित है कि जब तक वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विपमताओ और उनसे प्रोत्साहन पाकर पैदा होनेवाले अन्तर के अविश्वास (भाग्यवाद) और दुःखवाद के दोनो विषधरो को तोड़ न डालेगा, तब तक वह अपने क्षयरोग का उपचार न कर सकेगा।'

नरेन्द्र के काव्य में युग की पीड़ा है, किन्तु उससे भी अधिक किसी

व्यक्तिगत पीड़ा ने 'प्रवासी के गीत' में कठिन अवसाद भर दिया है। सभी दिन 'मलिन ठीकरे-सा निष्प्राण' कवि नहीं था। 'प्रवासी के गीत' अधिकतर वियोग के गीत हैं, जो मनुष्य-जीवन के साथ लगे ही रहेंगे।

नरेन्द्र प्रगतिवादी हैं। आपका विश्वास है कि 'आज का संक्रान्ति-कालीन जीवन शाश्वत नहीं, केवल सामयिक है।' कवि को 'अपनी रक्षा करने के लिए सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में उसे क्रान्ति उपस्थित करने के लिए पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रहकर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा।' आपकी 'प्रभात फेरी' उस क्रान्ति की पुकार है :

'आओ, हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिर बन्दी।
उन निर्जीव शून्य श्वासों में
आज फूँक दूँ लो नवजीवन
भर दूँ उनमें तूफ़ानों का,
अगणित भूचालों का कम्पन'
प्रलय-वाहिनी हों स्वतन्त्र हों, तेरी ये साँसें बन्दी'

आपने 'विज्ञान', 'रूढ़िवाद', 'इतिहास', 'बबूल', 'वेश्या' आदि अनेक कविताएँ लिखी हैं, जिनमें जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण है और भविष्य को आशा का सन्देश है। 'बबूल' कहता है :

'कष्टमय जीवन आजीवन
पर मैं निर्भय विश्वासी हूँ,
हूँ समर्थ, मैं सबल सनातन,
पर नित नव-बल-अभिलाषी हूँ
सुफल बनूँ, यदि बरसें काँटे नभ से शत शत धार।'

इस प्रकार जग-वाणी में नया ओज भर सकता है और एक नये युग का जन्म, जहाँ दु:खदैन्य न हों, नहीं तो जीवन में इन बन्दी साँसों को लेते रहना निस्सार है। 'प्रयाग' नाम की कविता में कवि ने लिखा है :

'यह जीवन चंचल छाया है,
बदला करता प्रतिपल करवट,
मेरे प्रयाग की छाया में
पर अब तक जीवित अक्षयवट।
क्या इसके अजर पत्र पर चढ़
जीवन जीतेगा महाप्रलय !
कह, जीवन में क्षमता है यदि
तो तम से हो प्रकाश निर्भय !
'मैं भी फिर नित निर्भय खोजूँ
शाश्वत प्रकाश अक्षय जीवन,
निर्भय गाऊँ, मैं शान्त करूँ
इस मृत्यु-भीत जग का क्रन्दन !
है नये जन्म का नाम मृत्यु,
है नई शक्ति का नाम ह्रास,
है आदि अन्त का, अन्त आदि का
यों सब दिन क्रम-बद्ध ग्रास !'

इसी आशा से कवि का जीवन-दीप स्नेहरहित भी टिमटिमा रहा है।

नरेन्द्र के कोप मे परिपाटी के काव्य की सभी निधि है : भापा-सौष्ठव, ''गीन कल्पना, भाव स्रोत। किन्तु इसके अतिरिक्त भी समाज की मर्मव्यथा से उनके गीतों मे नया वल आया है। इसी कारण हम आपको भविष्य के वढ़ते कवि के रूप मे देखते हैं।

आपकी भापा की सहज मिठास हमें काव्य में सुगमता से नहीं मिलती। श्रीमती महादेवी वर्मा अवश्य किसी अनमोल साँचे में अपने शब्द गढ़ती हैं। 'पन्त' की क्लिष्ट वाणी, 'निराला' का ओज और शक्ति, भगवतीचरण वर्मा, 'नवीन' अथवा 'बच्चन' की उर्दू के पुट से लचकीली भापा—इनमें अपना अलग आकर्पण है, किन्तु यह सहज माधुरी तो स्वयं ही कविता का जीवन है :

'कब बीते दिन फिरे किसी के?
लौटा कब बहता सरिता-जल?
लहरों की मृदु थपक ताल में
सुन लोरी तट-सा ही निश्चल,
सो जाऊँ फिर नदी किनारे।
मेरा घर हो नदी किनारे।'

आपके अनेक शब्द-चित्र पाठक की स्मृति पर लिख जाते हैं:

'पके जामुन-से रङ्ग की पाग
बाँधता लो आया आषाढ़।'
'चढ़ लपटों के स्वर्ण गरुड़ पर
फैलेगी जागृति की ज्वाला।'
'पल्लव के रुचिर किरीट पहन—
आता अब भी ऋतुराज वहाँ।'

अथवा—

'आयेगी वह कौन ताज-सी
आज स्वर्ण-हंसों के रथ में?'

हिन्दी के सौभाग्य से अनेक व्यक्तिगत निराशाओं और विपत्तियों की मार से भी इस तरुण कवि के कण्ठ का गीत-स्रोत सूखा नहीं, वरन् कुछ अधिक तरल ही हो गया है। काव्य के पिछले मील-स्तम्भों को भूल अब वह भविष्य का पथ खोज रहा है। उसके काव्य-प्राण में नवशक्ति भर रही है। उसका छन्द मुक्त हो गया है: उसका नया प्रयास किसी हद तक प्रयोगात्मक है। कुण्डली मारे जो सर्प उसकी आत्मा पर जमा बैठा है, उसे वह कुचलने की चिन्ता में लीन है। नरेन्द्र की सबल कविता 'ज्येष्ठ का मध्याह्न' हमें कुछ ऐसा अनुमान देती है:

'मध्याह्न-काल ज्यों अहि विशाल
केन्द्र में सूर्य,
शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों भीम भाल।'

उस अजगर की मणि-सी ही चमक इस कविता मे भी है। शक्ति की ओर जाते हुए इस सुकुमार कवि का भविष्य हिन्दी संसार उत्सुकता से देख रहा है और इस आशा से कि उसकी वाणी मे 'अगणित तूफान और भूचालो का कम्पन' भर जावेगा।

'दिनकर'

हिन्दी के प्रगतिशील साहित्य मे 'दिनकर' का अपना विशेप स्थान है। आपके काव्य ने प्राचीन परम्परा को त्याग समाज और संस्कृति के बिगड़ते रूप को पहचाना है, और इस भाव-जग मे छन्द-रचना की है। 'दिनकर' की आत्मा को तरुण जीवन की उमड़ती उमंगो ने अपनी ओर खींचा है, किन्तु अकर्मण्य विलास-प्रिय सकुचित गुट को ही बोधगम्य छन्द आपने निरन्तर नहीं लिखे। यद्यपि आपकी कविता युग-धर्म के अनुसार अन्तर्मुखी, गीत-प्राधान्य दु:ख में डूब रही है, फिर भी आपकी चेतना देश और समाज की परिस्थितियो से विमुख नहीं हो सकी है। इस करुण क्रन्दन के प्रति 'दिनकर' ने विवश हो अपने कान नहीं बन्द कर लिये, यह उनकी विभूति है, और न 'दिनकर' के छन्द निर्द्वन्द्व ज्ञान-चेतना के फलस्वरूप 'गीत गद्य' ही बने हैं। 'दिनकर' का काव्य किसी जीवित 'विस्यूवियस' का तरल, उष्ण लावा है।

'रेणुका', 'हुंकार', 'द्वन्द्व गीत' और 'रसवन्ती' दिनकर की चार रचनाएँ हमारे सामने आ चुकी है।

'हुंकार' मे 'दिनकर' का परिचय इस प्रकार दिया गया है:

"'दिनकर' की आँखो ने अभी कुल तीस वसन्त देखे है।

गगा-किनारे के सेमरिया (जिला मुँगेर, बिहार) नामक किसानों के गॉव—घोर देहात—मे जन्म लेकर भी पटना विश्वविद्यालय का वह सम्माननीय स्नातक है।

उसके अपने विनोद के शब्दों में उसका आज का पेशा लोगों के बालिग़-नाबालिग होने का सार्टिफिकेट देना है, यानी वह सब रजिस्ट्रार है।

× × ×

गेहुँआ रंग, छरहरा वदन, गुलाबी चेहरा—दिल में धधकता अंगारा, जिस पर इन्द्र-धनु खेल रहे हैं।

अंगारा, जिस पर इन्द्र-धनु खेल रहे—दिनकर की आत्मा, रचना का यही संक्षिप्ततम परिचय है।"

'दिनकर' के काव्य की शुरूआत यौवन-सुलभ सौन्दर्योपासना से होती है। प्रकृति का सौन्दर्य, जीवन का शृंगार, रूप की प्यास :

'व्योम-कुंजों की सखी, अयि कल्पने!
आ उतर, हँस ले जरा वनफूल में।'

बाद में युवावस्था के खौलते रक्त ने कवि की वाणी में भैरव-स्वर भर दिया :

'चाँदनी की अलकों में गूथ, छोड़ दूँ क्या अपने अरमान!
आह! कर दूँ कलियों के बन्द, मधुर पीड़ाओं के वरदान।'

'अमा-सन्ध्या', 'पाटलिपुत्र की गंगा', 'कोयल', 'निर्झरिणी', 'फूल', 'सायंचिन्ता', 'मिथिला में शरत्', वसन्त के नाम पर', 'फूलों के पूर्व-जन्म' आदि कविताएँ आपकी प्रकृति-साधना का प्रमाण हैं। अन्त में 'हिमालय' शीर्षक कविता में आपकी तपस्या के सभी अणु मिल गये हैं—प्रकृति का गौरव और अखण्ड चिर-समाधि :

'मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार, दिव्य, गौरव विराट! पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम-किरीट! मेरे भारत के दिव्य भाल!'

विहार-खण्ड का अमर अतीत इतिहास भी 'दिनकर' के काव्य में एक नज्जारे के समान हमारी आँखों के सामने से गुजर जाता है। पाटलिपुत्र, नालन्द, कपिलवस्तु और वैशाली का वैभव :

'चल अतीत की रंग-भूमि में, स्मृति-पंखों पर चढ़ अनजान।'

'हिमालय' के प्रति आप कहते हैं :

'सुख-सिन्धु ; पंचनद, ब्रह्मपुत्र, गंगा, यमुना की अमिय धार,
जिस पुण्यभूमि की ओर बही, तेरी विगलित करुणा उदार।'

यह पर्वत किसी अमर-तपस्या में सतत लीन रहा और देश का वैभव लुट गया :

'पूछे, सिकता-कण से हिमपति, तेरा वह राज-स्थान कहाँ
वन-वन स्वतंत्रता-दीप लिये, फिरनेवाला बलवान कहाँ ?

× × ×

वैशाली के भग्नावशेष से, पूछ लिच्छवी शान कहाँ,
ओ री उदास गंडकी ! बता विद्यापति के गान कहाँ !'

इस प्रकार की साधना उसे इतिहास का दिग्दर्शन कराती हुई वर्तमान के पलों तक ले आती है :

'तू मौन त्यागकर सिंहनाद, रे तपी ! आज तप का न काल'

' समयह्नद की ओर सिसकते, मेरे गीत विकल धाये,
आज खोजके उन्हें बुलाने, वर्तमान के पल आये।'

भारत के उज्ज्वल अतीत की आज की मलिन और धूमिल अवस्था से तुलना कर, कवि का हृदय व्याकुल, आक्रान्त हो उठा है। उसके काव्य की पृष्ठभूमि में गांधी की 'हुंकार' से जाग्रत भारत है। 'दिनकर' क्रमशः समाज के विकृत रूप की आलोचना वर्ग-संघर्ष के प्रतीकों मे कर रहे हैं, किन्तु अभी आप इस दिशा मे अधिक नहीं खुले। आपके गीतों मे स्वतन्त्रता का सिंहनाद है और साम्राज्यशाही का आप चिर-शत्रु के रूप में देख रहे हैं। हमारी सामाजिक परिस्थितियों की आज यही मॉग है।

कवि आज प्रलयंकर शंकर से फिर 'ताण्डव' नर्तन की अभिलाषा करता है :

'नचे तीव्र गति भूमि कील पर, अट्टहास कर उठे धराधर,
उपटे अनल फटे ज्वालामुख, गरजे उथल-पुथल कर सागर,
गिरे दुर्ग जड़ता का ऐसा, प्रलय बुला दो प्रलयंकर।'

आप क्रान्ति का विश्व-व्यापी रूप देख रहे हैं। अन्य दलित देशों को जो सभ्यता का पाठ साम्राज्यशाही सिखा रही है उसका वर्णन हमें आपके काव्य में मिलता है :

'शोणित से रँग रही शुभ्र पट, संस्कृति निठुर लिये करवालें,
जला रही निज सिंह-पौर पर, दलित-दीन की अस्थि-मशालें।'

'त्रिपथगा' क्रान्ति का चित्र है। क्रान्ति को आप आज विराट् रूप में देखते हैं। किसी भी ओर से वह निकल जायगी। क्रान्ति का बहुत प्रभावशाली शब्द-चित्र आपने खींचा है :

'मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शत फन,
मुझ चिर कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चन्दन,
आँजा करती हूँ चिता-धूम का, दृग में अन्ध-तिमिर-अंजन,
संहार लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन।'

× × ×

'पायल की पहली चमक, सृष्टि में कोलाहल छा जाता है,
पड़ते जिस ओर चरण मेरे, भूगोल उधर दब जाता है।'

'दिनकर' को दलित दुखियों का कवि कह सकते हैं क्योंकि उन्हीं की दुर्दशा देख कवि का विचलित हृदय 'हुंकार' कर उठा है :

'वैभव के बल से जब समाज के, पाप-पुण्य बन जाते हैं,
धन-हीन पुण्य को स्पर्श नहीं, लब ईश्वर भी कर पाते हैं।'

× × ×

'श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक, ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती के लज्जा-वसन बेंच, जब ब्याज चुकाये जाते हैं,
—लिक जब तेल-फुलेलों पर, पानी-सा द्रव्य बहाते हैं,
पी महलों का अहंकार देता मुझको तब आमन्त्रण।'

इसी कारण 'दिनकर' के काव्य में विषाद का एक कठिन वातावरण बन गया है, यद्यपि कवि ने विजयोल्लास में उसे भुलाने का प्रयत्न किया है :

'मंज़िल दूर नहीं अपनी, दुख का बोझा ढोनेवाले,
जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोनेवाले।'

निराशावाद के बादल हिन्दी-काव्य-संसार पर इतने जोर से घिरे हैं कि अन्धकार में कवि को हाथ-मारा नहीं सूझता। 'दिनकर' की उजागर कल्पना ने दूर आकाश मे बादलो को फटता देख लिया है, किन्तु फिर भी कवि अपने व्यथित हृदय का हाहाकार शान्त नहीं कर सका है :

'उर में दाह, कण्ठ में ज्वाला, सम्मुख यह प्रभु का मरुस्थल है,
जहाँ पथिक जल की झाँकी में, एक बूँद के लिए विकल है।'

× × ×

'रह-रह पखहीन खग-सा मैं, गिर पड़ता भू की हलचल में,
झटका एक बहा ले जाती, स्वप्न राज्य आँसू के जल में,

× × ×

'विभव-स्वप्न से दूर भूमि पर, यह दुखमय ससार कुमारी!
खलिहानों में जहाँ मचा करता, है हाहाकार, कुमारी!'

'नई दिल्ली' मे कवि फिर अपने अतीत सपनो को याद करता है और आज की गिरी दशा पर आँसू बहाता है :

'वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक-मेघ की रानी दिल्ली!
अनाचार, अपमान, व्यग की, चुभती हुई कहानी दिल्ली!'

× × ×

जरा गिरा ले घूँघट अपना, और याद कर वह सुख सपना,
नूरजहाँ की प्रेम-व्यथा में, दीवाने सलीम का तपना;
गुम्बज पर प्रेमिका कपोती, के पीछे कपोत का उड़ना,
जीवन की आनन्द-घड़ी में जन्नत की परियों का जुड़ना।'

कठोर, क्रूर काल ने कवि के हृदय में यह व्यथा भर दी है। किसी

और युग और काल में वह भी रूप-जगत् का उपासक होता। अब भी जग के शान्त, स्निग्ध, अकिञ्चन रूप की झलक हमे उसके गीत मे मिल जाती है :

'स्वर्णाखिला अहा! खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम परी,
रोमन्थन करती गायें, आ रही रौंदती घास हरी,
घर-घर से उठ रहा धुआँ, जलते चूल्हे बारी-बारी,
चौपालों में कृषक बैठ, गाते कहीं अटके बनवारी,
पनघट से आ रही, पीतवसना युवती सुकुमार,
किसी भाँति ढोती गागर, यौवन का दुर्वह भार,
बनूँगी मैं कवि, इसकी माँग, कलश, काजल, सिन्दूर, सुहाग,
वन-तुलसी की गन्ध लिये हल्की पुरवैया आती है,
मन्दिर की घण्टा-ध्वनि, युग-युग का सन्देश सुनाती है,
टिमटिम दीपक के प्रकाश में, पढ़ने निज पोथी शिशुगण,
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन।' आदि

ग्राम्य-जग की विभूति कवि ने सँजो-सँजोकर इस गीत में रखी है। यह शान्ति और स्निग्ध सौम्यता आज ग्राम-देश से कोसो दूर है। प्रबल वडवानल के उद्गारों से विलोड़ित महोदधि का कम्पन आज कवि के गीतो में भर रहा है। एक अनन्य शक्ति, तेज और ज्वाला उसकी कविता की निधि है। क्रान्ति-सी उमड़ती हुई राष्ट्रीय सेना का वह गीतकार है। अदम्य गति उसके पैरों में भर रही है। अपना 'चाँदी का शख' उठा वह भैरव-नाद करता है :

'फेंकता हूँ, लो तोड़-मरोड़, अरी निष्ठुरे! बीन के तार,
उठा चांदी का उज्ज्वल शख, फूँकता हूँ भैरव-हुकार।'

यह आशा का चिह्न है, क्योंकि जिस समाज मे कलाकार रूप और शब्द-विलास छोड़कर जीवन की पुकार सुन रहे हैं, वह साहित्य और समाज बलिष्ठ है। विलास में लिप्त संस्कृति समाज में घुन लगने के समान है।

———

'शेखर' : एक जीवनी

१

हिन्दी साहित्य में आज जो मुट्ठी-भर शक्तियाँ जागरूक और विकासमान है, 'अज्ञेय' उनमें महत्त्वपूर्ण हैं। उनका व्यक्तित्व गम्भीर और रहस्यपूर्ण है। उनको पहचानना कठिन है।

ऊपर से शान्त किन्तु अन्तर में धधकती अग्नि छिपाये हिम से ढके ज्वालामुखी सदृश यह व्यक्तित्व है। 'अज्ञेय' के पीछे शताब्दियों की कुलीन सस्कृति है और इसका सुनहरा चमकता मुलम्मा आपके शान्त मधुर व्यक्तित्व पर चढ़ा है। किन्तु हम जानते है कि इस कोमलता और स्निग्ध मिठास के पीछे एक उग्र, उद्धत उपेक्षा का भाव है और विद्रोह की आग हैं। इसका साक्षी आपका जीवन और रचनाएँ है।

'अज्ञेय' एक उच्च-मध्यकुल की सन्तान है। आपके परिवार में संस्कृत-शिक्षा की परिपाटी चिरकाल से चली आ रही है। आपके पिता पुरातत्त्व-विभाग मे ऊँचे ओहदे के कर्मचारी हैं। किन्तु 'अज्ञेय' ने यह विरासत त्याग दी है। आप घर छोड़ आतंकवादी दल से मिले और भारतीय चिन्ता-धारा को तज एक नवीन सांस्कृतिक प्रयोग की ओर मुड़े। आपने कठिन कारावास सहा है और समाजवाद की विद्रोही धाराओ यानी ट्रट्स्कीवाद और रोयिज्म से आपने नाता जोड़ा है। फिर भी 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व एक समन्वय अवश्य है, न-कार नहीं।

जेल में 'अज्ञेय' ने कहानियाँ लिखनी शुरू की जो अब 'विपथगा' नाम से छप चुकी हैं। आपके दो कहानी-सग्रह और भी छप चुके है। आपकी कविताओं का संग्रह 'भग्नदूत', आपके वृहत् उपन्यास 'शेखर' के दो खण्ड और 'चिन्ता'—गद्य-गीतऔर कविताओ की मुक्ता-माल— यह रचनाएँ प्रकाश मे आ चुकी हैं। 'अज्ञेय' पैनी दृष्टि के आलोचक भी हैं। 'विशाल भारत' का एक वर्ष का सम्पादन-काल स्मरणीय

प्रयास था। देहली रेडियो से नई किताबों के विव्यू अपनी निर्भीकता और रसज्ञता के लिए ख्याति पा चुके हैं। आलोचना-साहित्य की आपकी देन 'त्रिशकु' प्रकाशित हो गया है। हम देखते कि सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न यह व्यतित्व प्रकाशमान् पुच्छल तारे के समान हिन्दी के आकाश में उदय हुआ।

यह भी लगता है कि यह व्यतित्व अपने में ही रमा, खुल नहीं पाता और कुण्ठित होकर रह जाता है। वूर्जुवा संस्कृति की पराकाष्ठा मे घुटकर वह अन्तर्मुखी हो रहा है :

'मैं क्यों इस प्रकार अपने हृदय को चीरकर देखता हूँ? उसमें प्रेम है या व्यथा, सुख है या दुःख, आशा है या निराशा, प्रशस्ति है या तिरस्कार, यह जानने की चेष्टा क्यों करता हूँ! अपने को वहुत अधिक जानने से कोई लाभ नहीं होता, केवल क्लेश ही क्लेश होता है ..' ['चिन्ता', पृष्ठ १३]

फिर भी वह जितना ही जग को पहचानने का प्रयास करता है, केवल अपने को ही पहचान कर रह जाता है।

'कभी-कभी—शायद सदी में एक वार—एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न हो जाता है जिसकी कामना की अपेक्षा उसका विवेक अधिक क्रियाशील होता है और रहता है। ऐसा व्यक्ति संसार मे तहलका मचा देता है, किन्तु सुखी कभी नहीं हो पाता.. ससार भर के दैन्य, दारिद्रय दुःख में छिपा हुआ नित्य भैरव तथा रौद्र रूप उसकी आँखो के आगे नाचता रहता है, और उसे वास्तव को भुलाकर इच्छित को स्थापना का समय नहीं देता। संसार उसके काम को देखकर समझता है कि उसने वहुत कुछ किया, किन्तु इसी विवेक के आधिक्य के कारण, ससार की त्रुटियों की निकटतम अनुभूति के कारण, वह अपने आपको ऐसा विश्वास नहीं दिला पाता। वह आजीवन वैसा ही क्षुब्ध और अशान्त चला जाता है जैसा जीवन के आरम्भ मे था ..

'मैंने समझ लिया, मैं भी ऐसा ही प्राणी हूँ।' ['चिन्ता', पृष्ठ १५]

'अज्ञेय' की अनुभूति परम कोमल और परिमार्जित है। विश्व के

कण-कण ने उन्हें स्पर्श किया है। वह मोम के समान कोमल हैं और स्फटिक के समान कठोर भी। वह झुकना भी जानते हैं और तनना भी। वह नम्र भी हैं और उग्र भी :

'फूला कहीं एक फूल!
विटप के भाल पर,
दूर किसी एक स्निग्ध डाल पर,
एक फूल—
खिला अनजाने में।
मलय-समीर उसे पा न सकी,
ग्रीष्म की गरिमा झुका न सकी
सुरभि को उसकी छिपा न सकी
शिशिर की मृत्यु धूल!
'फूल था या आग थी जली जो अनजाने में!
जिसकी ललाई देख विटप सुलझ गया—
सौरभ से जिसके समीरण उलझ गया,
भव निज गौरव को भूल गया,
सुमन के तन्तु की ही फाँसी से झूल गया!'
'ऐसे फिर
जग की विभूतियों को छान कर
एक तीखे घूँट ही में पान कर
लाख लाख प्राणियों के जीवन की गरिमा
—हाय उस सुमन की छोटी-सी परिमा!—
मूर्च्छित हो कुसुम स्वयं ही वह चू पड़ा—
जानने को जाने किस जीवन की महिमा!'

'अज्ञेय'जी का जीवन जग की वेदना से विकल संतप्त और अभिशप्त है। वह इस पीड़ा का प्रतिकार चाहते हैं और सतत इस चिन्ता में लीन हैं। उनकी कला आज की लड़ाई में चमकता अस्त्र भी बनना चाहती है। किन्तु फिर भी 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व एक विफलता और अवसाद

का भाव लिये है। इसका क्या कारण हो सकता है? क्यों आपकी कला में पीड़ित मानवता के लिए आशा की गूँज नहीं? क्यों तृषित के लिए आपकी रचना ओस की बूँद मात्र है!

'अज्ञेय'जी को शायद मानव की सामूहिक शक्ति पर भरोसा नहीं। आप व्यक्तिवाद के कायल हैं और विद्रोही व्यक्ति को त्राण का उपाय समझते हैं, विद्रोही समाज को नहीं—ट्रॉटस्की को, क्रान्तिकारी रूस के प्रतिनिधि स्टालिन को नहीं,

'जाने किस दूर वन-प्रान्तर से उठकर
आया एक धूलिबाण।
ग्रीष्म ने तपाया उसे,
शीत ने सताया उसे,
भय ने उपेक्षा के समुद्र में डुबाया उसे,
पर उसमें थी कुछ ऐसी एक धीरता—
जीवन-समर में थी कुछ ऐसी वीरता,
जग सारा हार गया,
डाल हथियार गया
अपने कलंक की ही कालिमा के बिन्दु में
डूबा वह, या कि आत्म-ताड़ना के सिन्धु में! ..'

फिर भी शेखर की ही भाँति 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व 'घोंघे' के अन्दर रहता है और उससे बाहर निकलने मे घबराता है। आज कलाकार की कुलीन परम्परा अधिक पके फल के समान टूटकर गिरनेवाली है। किन्तु अभी तक उसका सकोच और संयम एक अभिशाप बना है। आज की समाज में परम्परा और मर्यादा विहीन मजदूर ही क्रांति का अग्रदूत बन सकता है। शिष्ट वर्ग केवल 'भग्न-दूत' है।

२

'शेखर' का प्रकाशन आज के हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। 'शेखर' को लेखक ने दस वर्ष के रक्त-स्वेद से लिखा है,

यद्यपि यह जीवन-तन्तु एक रात्रि के तीव्र पीड़ामय अनुभव से सुलझा।

'शेखर' हिन्दी की उपन्यास-कला में एक नवीनतम प्रयोग भी है, और हिन्दी के इस निर्माण-काल में कला की असाधारण प्रवृत्तियों से परिचित होना जरूरी है।

'शेखर' एक ही व्यक्ति का चित्र है, यद्यपि उसके दाएँ-बाएँ कुछ और भी अस्पष्ट-से छाया-प्राणी हैं। 'शेखर' स्वयं भी कुछ अस्पष्ट रह जाता है, क्योंकि प्रस्तुत पुस्तक उसके अन्तर्मन की कहानी है और अन्तर्मन धुँधला ही रहता है। 'शेखर' बाह्य जगत का प्राणी नहीं, उसके जीवन में कोई घटनाएँ नहीं-सी घटीं। वह घोर अन्तर्द्रष्टा (Introvert) है, छोटी बातें उसके लिए विशाल आकार धारण कर लेती हैं। इसी कल्पना के शीशमहल मे उसका जीवन कटता है: 'जहाँ सूर्यास्त के सोने का टापू है और जहाँ इन्हीं नीलिमा में घुल जानेवाले बादलों से बने हुए सूत के वस्त्र पहननेवाली राजकन्या रहती है...।'

यही कारण है कि शेखर अकेला है। वह सदा ही 'घोंघे' के भीतर रहता है: 'जब वह भूखा होता है या जब वह एक प्रणयी खोजता है, तभी वह घोंघे के बाहर निकलता है।' अपने अन्तर्मन की प्रतिक्रियाओं से जकड़ा असहाय बन्दी वह जीवन-यापन करता है। पानी से उसे विशेष मोह है और अनेक बार वह डूबता है। अन्त में उसकी मृत्यु फाँसी से न होकर पानी से ही होनी चाहिए।

इसी शेखर के जीवन-सूत्र लेखक ने सुलझाए हैं। शेखर विद्रोही है। वह सभी कुछ बदलना चाहता है, धर्म, समाज, राजसत्ता, अर्थसत्ता और अपना व्यक्तित्व। वह 'एतादृशत्व, Thusness मात्र' का विरोधी है। शेखर के जीवन मे कठोर वेदना भर गई है और जब वह उसके मन में समाए नहीं समाती, करुण क्रन्दन में फूट-फूटकर वह निकलती है: 'हाय, मानव के छोटे से मस्तिष्क और हाय, भव के विराट् सत्य!'

शेखर ने क्रान्ति का अपना आदर्श हमारे सामने उपस्थित किया है। वह बन्धनहीन जीवन माँगता है: 'शुभ्र, स्वच्छ, सगीतपूर्ण, अरुद्ध,

निरन्तर, सचेष्ट और प्रगतिशील, घरबार के बन्धनों से मुक्त और सदा विद्रोही।' शेखर को आज के परिवार और समाज के बन्धनों ने 'निहिलिस्ट' बना दिया है, वह घोर असामाजिक प्राणी बन गया है। वह सब कुछ तोड़ डालना चाहता है। किन्तु उसके आगे बनावेगा क्या, वह नहीं जानता। वह विज्ञान के सिद्धान्त का आश्रय लेकर बचना चाहता है कि प्रकृति में खालीपन नहीं रहता।

शेखर विद्रोह की आराधना में रहस्यवादी बन गया है। वह कहता है कि विद्रोही जन्मते हैं, बनते नहीं। परिस्थितियाँ विद्रोह-बुद्धि नहीं बना सकतीं। इस तर्क-प्रणाली के अनुसार सामाजिक क्रान्ति ट्रॉट्स्की जैसे असाधारण व्यक्तियों का मुँह देखती रहेगी कि कब क्या हो।

शेखर विद्रोही है। हम इतने से सन्तुष्ट नहीं कि वह ऐसा जन्मा ही था। भारतीय समाज और परिवार की कठोर सामन्ती शृंखलाओं ने उसे विद्रोह की ओर उन्मुख किया। उन्हीं परिस्थितियों में उसके भाई-बहिन भी पले, शेखर यदि तेज का पुञ्ज है, तो ईश्वर भी कॉलेज छोड़ भाग खड़ा हुआ था।'

हमारे समाज ने व्यक्ति को आज चारों ओर से जकड़ रखा है। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है शेखर का जलता विद्रोही व्यक्तित्व। यह हमारे युग की ही विभीषिका है कि शेखर ऐसे व्यक्तित्व जीवन के निर्माण में न लगा कर ध्वंस में पड़ते हैं। किन्तु उन्हें आशा का आलोक नहीं दीखता, क्योंकि वे अकेले हैं, व्यक्तिवादी हैं, सामाजिक क्रान्ति के पथ से अलग चलते हैं।

'शेखर' के टेकनीक के लिए पाठक के मन में आदर ही हो सकता है। घने श्रम और रक्त-बिन्दुओं से लेखक ने 'शेखर' को लिखा है।

'शेखर : एक जीवनी' जो मेरे दस वर्ष के परिश्रम का फल है .. घनीभूत वेदना की केवल एक रात में देखे हुए vision को शब्दबद्ध करने का प्रयत्न है।...

'एक मास जब मैं लाहौर किले से अमृतसर जेल ले जाया गया,

तब लेखन-सामग्री पाकर मैंने चार-पाँच दिन में उस रात में समझे हुए जीवन के अर्थ और उसकी तर्क-संगति को लिख डाला। पेंसिल से लिखे हुए वे तीन-एक सौ पन्ने 'शेखर : एक जीवनी' की नींव हैं। उसके बाद नौ वर्ष से अधिक मैंने उस प्राणदीप्ति को एक शरीर दे देने मे लगाए है।'

'शेखर' को हम चार भागो मे देखते हैं। 'प्रवेश' जो कथा की पटभूमि है जिस पर कुछ रेखाएँ खींची गई हैं, बाद मे यह रेखाएँ अधिक दृढ़ और सुस्पष्ट बनाई गई हैं। इस कथा का क्रम है : शैशव, विकास और परिपकता।

शैशव मे पारिवारिक बन्धन और स्कूल के नियंत्रण से शेखर की विद्रोह-बुद्धि चेतना प्राप्त करती है। उसके जीवन मे दो अंकुर उगते है : अनीश्वरवाद और प्रणय की आकांक्षा। आगे चलकर यह अकुर बलशाली जीवन प्राप्त करते है।

'शेखर' की घटनाओं मे कोई सुलझा तारतम्य नहीं - जैसे मोतियों की माला टूट गई हो, और बिखरे मोतियों को फिर एक बेतरतीब लड़ी में पिरो दिया जाय..।' 'शेखर' को 'अनेक असम्बद्ध चित्र' भी कहा जा सकता है। किन्तु यह चित्र बनाए गए हैं बडी लगन से, परिश्रम से, निष्ठा से।

हम देखते है कि 'शेखर' के सम्बन्ध मे चित्रकला की उपमाएँ मन में आती हैं। 'शेखर' बड़े यत्न और परिश्रम से बनाए चित्रों का अनुपम संग्रह है। जिन रेखाओं (अथवा शब्दो) से यह चित्र बने हैं, वह एक कुशल कलाकार के दृढ़ संयत हाथों ने खींची है। 'शेखर' की भाषा कठिन अग्नि मे तपाई धातु के समान चमकीली और परिष्कृत है।

यही सब कारण है कि 'शेखर' की कथा धीर. मंथर गति से आगे बढ़ती है और उसके प्रवाह में रव कम है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी

पिछले वर्षों में हिन्दी-साहित्य बहुत वेग से बढ़ा है और सभी क्षेत्रों में आशातीत उन्नति हुई है, आलोचना के क्षेत्र में भी। आलोचना साहित्यिक सत्य की खोज है, व्यक्तिगत पक्षपात, घात-प्रतिघात से परे; किन्तु हिन्दी आलोचना अब भी सिद्धान्त को भूल, व्यक्ति का मुँह देखकर चलती है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी में उच्च कोटि के आलोचक पैदा नहीं हो रहे। हिन्दी आलोचना के पथ दर्शक महारथी साहित्यकार हो चुके हैं, जिनमें हम स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बा० श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु और पं० रामचन्द्र शुक्ल को गिनते हैं।

हिन्दी आलोचना में एक गम्भीर परिवर्तन भी हुआ है। द्विवेदी-युग के आलोचक शास्त्रीय आलोचना करते थे। उस परम-पाण्डित्यपूर्ण विवेचन में एक स्थूल काया अवश्य थी, किन्तु रस अथवा भावना नहीं। आज हिन्दी आलोचना में जो सहृदय साहित्यिक काम कर रहे हैं उनमें श्री० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री शिवदानसिंह चौहान, डा० रामविलास शर्मा, श्री नगेन्द्र, बा० गुलाबराय, श्री सत्येन्द्र और श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी विशेष उल्लेखनीय हैं।

शान्तिप्रिय द्विवेदी बहुत मुख्तसर-से आदमी हैं। पं० बनारसी-दास चतुर्वेदी के शब्दों मे आप 'लाइट-वेट चैम्पियन' हैं। आपके जीवन में भाग्य ने पीड़ा कूट-कूटकर भरी है। शायद श्री महादेवी जी वर्मा के काव्य के प्रति आपका विशेष मोह इस कारण भी है। असपन्नता के साथ-साथ वज्र-प्रहार आपके ऊपर हुआ जब आपकी बड़ी बहन स्वर्गता हुईं। आपने अपने जीवन-सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे हैं जिनका संग्रह 'जीवन-यात्रा' नाम से निकल चुका है। 'प्रवास' शिर्पक एक निबन्ध 'साहित्यिकी' में भी है। और भी आपके

साहित्यिक लेखों में आत्मकथा का पुट मिलता है, जैसे 'सांस्कृतिक कवि मैथिलीशरण' में। शायद कभी आप अपनी 'जीवन-कथा' लिखें। इस क्षेत्र में भी हिन्दी का साहित्य सीमित है। 'कुल्ली भाट' और 'मेरी असफलताएँ' इस दिशा मे सराहनीय प्रयास हैं।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की साहित्यिक प्रगति के पग हैं १—'हमारे साहित्य-निर्माता'; २—'कवि और काव्य', ३—'साहित्यिकी' ४—'सञ्चारिणी', ५—'युग और साहित्य'। यह पुस्तके हिन्दी के आधुनिक-साहित्य का हमें सिंहावलोकन कराती है। इन पुस्तकों में लेखक के कुछ मौलिक गुण अनायास ही झलक जाते हैं, वे हैं द्विवेदीजी की आलोचना-पृष्ठ भूमि में एक अभिनव सहृदयता, भावुकता और अनुभूति। आप आलोचना के क्षेत्र मे कवि और दार्शनिक हैं और अपनी अनुभूति से सहज ही रस अर्चन कर लेते हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास भी इन निबन्धो को कह सकते हैं, यद्यपि यह इतिहास सरसरी तौर का है।

इन निबन्धों का एक निजी गुण इनकी पुष्ट सौरभमयी भाषा है, जिसे लेखक ने साँचो में ढाल-ढाल कर गढ़ा है। अक्सर यह भाषा गद्य-काव्य की परिधि में पहुँची है और इसके शब्द-चित्रों में नूतनता और मार्मिकता के गुण हैं। सस्कृत के भार से तो यह बोझिल है ही, किन्तु कहीं-कहीं अग्रेजी के शब्दो का भार भी इसे दबाये है। इसे दोष कह सकते हैं। पन्तजी की 'युगवाणी' के प्रति आपका कथन है :

'जिस गद्य-भाषा मे पन्त नवीन मानवता के विचार दे रहे हैं, उन विचारो मे शुष्क मेटर आफ फैक्ट तो है किन्तु कला का फ्लो और फोर्स नहीं।'

अँग्रेजी के शब्दों का बहिष्कार हो, इसके हम पक्ष में नहीं, किन्तु इस प्रकार हिन्दी शब्दो को दबाना भी ठीक नहीं।

द्विवेदीजी के विचारों की पृष्ठ-भूमि विश्व-साहित्य का बहुत कुछ अध्ययन और मनन है, अध्ययन से अधिक मनन। टॉल्सटॉय, रविबाबू और शरद् की कला के साहचर्य्य से आपके विचार मँजे और परिपक्व

हुए हैं। आप कला के साधक हैं किन्तु कला की पुकार को मानवता से पृथक् नहीं समझते। आपकी सहृदयता ने दोनों में एक सामंजस्य पा लिया है और इसी कारण आप गुण-विवेचन में अधिक लीन हैं। दोषों की छानबीन में नहीं।

'कवि और काव्य' में आपने कला और काव्य के रूप की सरस मीमांसा की है, बाद में पुरातन और नूतन काव्य की विवेचना। 'ब्रजभाषा का माधुर्य-विलास', 'भक्तिकाल की अन्तर्चेतना', 'प्राचीन हिन्दी कविता', 'मीरा का तन्मय संगीत', 'ब्रजभाषा के अन्तिम प्रतिनिधि (रत्नाकर)' आदि घाटों को पार करती हुई आपकी आलोचना-सरिता भारतेन्दु-साहित्य, 'आधुनिक हिन्दी कविता', 'औपन्यासिका', 'कविता और कहानी', 'छायावाद का उत्कर्ष, 'नवीन काव्य-क्षेत्र में महिलाएँ','समालोचना की प्रगति', 'हमारे साहित्य का भविष्य' आदि मंजिलों का हमें दर्शन कराती है। इस प्रकार हिन्दी के नवीन और पुरातन साहित्य की रूप-रेखा का एक दिग्दर्शन हमे हो जाता है।

'साहित्यिकी' और 'सञ्चारिणी' मे नवीन हिन्दी कविता का चित्र हमे और भी पुष्ट रेखाओं में मिलता है। 'सञ्चारिणी' तो नयी कविता के कल तक के इतिहास यानी 'युगवाणी' के पन्त से हमें परिचित कराती है। इन निबन्धों मे द्विवेदीजी ने नवीन हिन्दी कविता का काल-विभाग किया है, कवियो और कवियित्रियो का परिचय दिया है और काव्य की आत्मा का सूक्ष्म दार्शनिक निरूपण किया है। यह विशद विस्तृत और सूक्ष्मदर्शी विवचना आलोचक के रूप में आपका महत् कार्य है।

'छायावाद' का काल-विभाग आपने इस प्रकार किया है: १—प्रसाद की काव्य-प्रतिभा (छायावाद की आरम्भिका), २—माखनलाल, पन्त, 'निराला', महादेवी, रामकुमार, 'नवीन' इत्यादि मुक्तक विकास, ३—गीतिकाव्य, ४—पन्त का 'युगान्त' चिन्तन।

'सम्प्रति गीतिकाव्य की दशा में दो स्कूल प्रचलित हुए: १ महादेवी-स्कूल, २ 'निराला-स्कूल।'

'युग और साहित्य' में आपने आधुनिक साहित्य को सामाजिक

और राजनैतिक पृष्ठ-भूमि मे रख कर परखा है। यह विवेचना भावुकता पूर्ण है और हिन्दी मे आजकल ठोस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का मूल्य बढ़ रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य की नवीनतम धाराओ से परिचय रखकर द्विवेदीजी आलोचना-क्षेत्र में बढ़ रहे है। यह शुभ चिन्ह है। आप कला के पार्श्व में 'मानवता' का स्थान पहचान रहे है और इसी कारण जो साहित्य और कला का कायाकल्प हो रहा है, उसके प्रति आपकी निरी उपेक्षा नही और इसी कारण द्विवेदी-युग के आलोचको ने 'छायावाद' को पहचानने मे जो गलती की थी—और जीवन-तरगो से विमुख किताबी-कीड़े आलोचक जो गलती आज दुहरा रहे हैं—उससे आप बच जायँगे।

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने शास्त्रीय आलोचना का आँचल छोड कर अपने निजी अध्ययन, मनन, अनुभव और परख से जो नवीन साहित्य की गम्भीर विवेचना की है वही हिन्दी आलोचना मे आपका बडा काम है। आपने आलोचना शास्त्र को तो कुछ नये अस्त्र नहीं दिये, किन्तु हिन्दी आलोचकों को अवश्य एक नवीन पद्धति और गीत-विधि सिखाई है। हिन्दी आलोचना को आपने नवीन दृष्टि दी है। नीरस निर्जीव शास्त्रियों का दृष्टिकोण त्याग आपने आलोचना को सरस, सजीव और मर्मस्पर्शी बनाया है।

प० रामचन्द्र शुक्ल को ध्यान में रखते हुए श्री रामकुमार वर्मा आपके प्रति कहते हैं: 'कुएँ की गहराई की अपेक्षा सरोवर का यथोचित गहराई लिये हुए, समतल और विस्तार इन लेखों मे मिलेगा।' शायद इस मतव्य से किसी का विरोध न हो।

हिन्दुस्तानी

कुछ दिन पहले सर तेज बहादुर सप्रू ने एक वक्तव्य में कहा था कि उर्दू ही भारतवर्ष की सार्वजनिक भाषा होने योग्य है। हिन्दुस्तानी

की आप कोई हस्ती ही नहीं मानते। आपके अनुसार हिन्दुस्तानी में कोई साहित्य नहीं, न गढ़ा ही जा सकता है, हिन्दुस्तानी में ठीक से विचार भी नहीं व्यक्त हो सकते।

इसके कुछ ही दिन बाद प्रो० अमरनाथ झा ने ग्वालियर में गणेश जयन्ती के अवसर पर हिन्दी के पक्ष में जबरदस्त दलीलें पेश कीं। आपके विचार इसके पूर्व भी 'लीडर' और 'रूपाभ' आदि में प्रकट हो चुके थे। आप कहते हैं कि हिन्दी हमें देश की प्राचीन अटूट संस्कृति के सम्पर्क में लाती है। देश का बहुमत इसी भाषा को समझता और प्रयोग करता है। प्रान्तीय भाषाओं से हिन्दी का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उर्दू में केवल विदेशी फारसी और अरबी शब्दों की भरमार है।

उपर्युक्त दो मतों मे गहरा अन्तर है। क्या इस मतभेद को पार करने के लिए हम कोई पुल नहीं बना सकते ?

संस्कृति और साहित्य की दलीलें मजबूत हैं। हिन्दुस्तानी अभी अपरिपक्व भाषा है। विचारों के बारीक बिन्दु हम इस भाषा से नहीं बना सकते। हमें तुरन्त फारसी अथवा संस्कृत की शरण लेनी पड़ती है। बारीक काम के लिए यह खोटा शस्त्र उपयुक्त नहीं।

किन्तु हिन्दुस्तानी इस देश की सार्वजनिक बोलचाल की भाषा है। जो भाषा सीमान्त प्रदेश, पंजाब, संयुक्त प्रान्त, मध्य-प्रान्त, बिहार, बंगाल, बम्बई और मद्रास तक देश के कोने-कोने में सुनायी पड़ती है, वह संस्कृत-तनया हिन्दी नहीं, न फारसीदाँ उर्दू है; वह सीधी-सादी हिन्दुस्तानी है। दफ्तरों में, स्टेशनों पर, फैक्टरी और बाजार-हाटों की हलचल में हमें हिन्दुस्तानी ही सुनाई पड़ती है।

हिन्दी और उर्दू का साहित्य प्रौढ़, परिपक्व और हमारे गर्व की वस्तु है, साथ ही प्राचीन भारतीय और पारसीक संस्कृति का प्रवेश-द्वारा भी। हमें इसके विकास में बाधा डालने का अधिकार नहीं। इतना इशारा जरूरी है कि जिस साहित्य का बहाव देश की व्यावहारिक भाषा से भिन्न होता है वह मर जाता है। इसी प्रकार संस्कृत और फारसी भाषा को काल खा गया।

प्रत्येक भाषा का इतिहास ठठरियो से भरा पड़ा है। कालान्तर मे संस्कृति की भाषा व्यावहारिक भाषा से इतनी दूर हो जाती है कि उसे कुछ तपसी साहित्यिकों को छोड़ और कोई भी नहीं समझता। फिर व्यावहारिक भाषा अपना नया साहित्य रचना शुरू करती है। इस तरह लैटिन का स्थान इटैलियन भाषा ने लिया और संस्कृत का प्राकृत ने।

साहित्य और संस्कृति की बात अलग हटाकर हमें अपने सार्वजनिक और राजनैतिक जीवन के लिए एक व्यापक भाषा चाहिए। हिन्दी और उर्दू का साहित्य फलता-फूलता रहे—इसमें कुछ आपत्ति नहीं। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दुस्तानी ही हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है, क्योंकि यही आम ज़ुबान देश के कोने-कोने मे सुन पडती है। हिन्दुस्तानी हमारी अनेक व्याधियो की एक ही अमोघ दवा है।

व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दुस्तानी-ही हमारे देश के सार्वजनिक जीवन की भाषा हो सकती है। मैं दोहरी लिपि के पक्ष में हूँ। स्वयं मेरा मत है कि हिन्दी-उर्दू दोनों, स्कूल की आखिरी क्लास तक लाजिमी हो। स्विट्जरलैण्ड मे प्रत्येक नागरिक को तीन भाषा सीखना जरूरी है। प्रगतिशील लेखक संघ रोमन लिपि के पक्ष मे है। प० जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाष बोस भी। रोमन हमको दुनिया के रद्दो-बदल के संपर्क में लाएगी। धीरे-धीरे मनुष्य के बीच की दीवारें टूट रही हैं और सीमाएँ लाँघी जा रही हैं। शायद रोमन के पक्ष में अभी लोकमत नहीं बनेगा। हमें देवनागरी और फारसी लिपि दोनो ही अपने सार्वजनिक कामो के लिए स्वीकार करनी पड़ेंगी। और कोई स्कीम आदर्शवाद होगी, व्यावहारिक नीति नहीं।

एक बार हिन्दुस्तानी सार्वजनिक भाषा बन कर और अँग्रेजी का आसन ग्रहण कर खूब बढ़ सकती है। उसके शब्द-भण्डार मे उन्नति और विकास होगा। समय बीतने पर उसका अपना साहित्य भी बन सकता है। जब दाँते ने इटैलियन में अपना अमर काव्य लिखा, तब कौन उस भाषा की पहुँच और उड़ान समझता था? कोई भी भाषा

विदेशी और विजातीय शब्दों से अपनी जीवन शक्ति बढ़ाती और संगठित करती है। अँग्रेजी में कितने मिश्रित शब्द हैं—सैक्सन, रोमन, नॉरमन, ग्रीक और संस्कृत तक! इस प्रकार सर्वग्राही भाषा निरन्तर काया-कल्प करती है और अजर-अमर बनती है। शुद्ध रक्त की भाषा फेरो के वंश की तरह जल्दी ही कमजोर और मरणप्राय हो जाती है। हिन्दुस्तानी यदि विजातीय शब्दों से परहेज न करे, तो आगे चलकर गहनतम विज्ञान के ग्रन्थ भी इसमें लिखे जा सकते हैं।

हिन्दुस्तानी क्या है? यह सवाल भी पूछा जाता है, यद्यपि यह पूछने का वक़्त निकल गया। जो भाषा हम अपने जीवन में दिन-रात बोलते हैं. वही हिन्दुस्तानी है। हिन्दुस्तानी का पहला कवि अमीर ख़ुसरो था। उसकी भाषा हिंन्दी और उर्दू दोनो के करीब है। ख़ुसरो की पहेलियाँ पढ़कर देख लीजिए। यही ख़ुसरो की भाषा दो पहलुओं से बदलकर हिन्दी और उर्दू हो गई और यदि साहित्य में नहीं, तो सड़कों पर अब भी सुनाई पड़ती है। डा० अलीम का अन्दाज है कि करीब बारह करोड़ आदमी हिन्दुस्तानी बोलते है और लगभग आठ करोड़ पढ़ और समझ सकते हैं!

इस प्रश्न पर हम संकुचित दृष्टिकोण से विचार नहीं कर सकते। देश और जाति का जिसमें भला हो, उस व्यापक दृष्टिकोण से हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि हिन्दुस्तानी का विकास होना चाहिए। हमारी जनता इसी भाषा को समझती है और कांग्रेस की यही भाषा है। कुछ ही परिश्रम से हमारे राष्ट्रीय जीवन का यह आधार बन सकती है। देश को दो दिशाओं में जाने से हिन्दुस्तानी ही रोक सकती है।

———

साहित्य और सुरुचि

कला की उत्पत्ति और आरम्भिक गति धर्म के अन्तर्गत हुई। गीत और नाट्य देवता की अर्चना हेतु जन्मे। सृष्टि के अनुपम सौंदर्य और अकथ रहस्य के प्रति मनुष्य ने शब्द और संगीत में अपनी कृतज्ञता

प्रकट की। चित्रकला और स्थापत्य कला भी देव-मंदिर सजाने के हेतु विकसित हुए। नाटक ग्रीस और ईसा के यूरोप मे मंदिर और गिरजा-घर में जन्मे और बढ़े। इसी कारण हम कला को धार्मिक माप-दण्डों से नापते है। किन्तु कालान्तर में कला धर्म के प्रभाव से मुक्त हुई और कला के माप भी बदले।

भारत में भी काव्य और गीत का जन्म देवस्तुति के हेतु हुआ। वेद प्राचीन भारतीयो की देवताओ के प्रति श्रद्धाञ्जलि है और हमारे चिरस्मरणीय गीतिकाव्य भी।

पुजारियों के प्रभाव से निकलकर कला जनसघो और सामन्तीय वर्गों की देख-रेख मे बढ़ी और फली फूली। इङ्गलैण्ड के नाटक, सस्कृत काव्य और हिन्दी की पुरानी कविता का भी यही इतिहास है। यह साहित्य इन जनसंघो और वर्गों की रुचि का परिचायक था। आज संसार का साहित्य मध्य वर्ग की सृष्टि है और उन्हीं की रुचि का प्रतिनिधि है। उन्ही के संकीर्ण, रूढ़िग्रस्त विचारो के कारागार मे वह बन्दी है। हमारा समाज जब मुक्त होगा, तब सस्कृति भी इन परम्परा-गत जीर्ण-शीर्ण कसौटियों से मुक्त होगी।

कला के आज धर्म से पृथक् स्वतंत्र माप हैं। कला में भी समाज की भाँति सुरुचि और कुरुचि की कसौटियाँ वदली है। किन्तु फिर भी कुछ आलोचक, जिन पर काल की गति का कुछ असर नहीं हुआ, धार्मिक मापो मे कला को तौलते हैं। सुरुचि और कुरुचि की कसौटियाँ बदलती रहती है, यह हमे दक्षिण के विशाल मंदिर और कोणारक का सूर्य मदिर अब भी बतलाते हैं, इन मदिरो की नक़्क़ाशी भी सुरुचि का कोई अद्भुत नियम मानकर चली होगी।

जब हम किसी कलाकार की युगान्तरकारी कृति को अपने रूढ़ि-बंदी, अधपके विचारो से जाँचते है, तो इतिहास की याद कर हमे कुछ रुकना भी चाहिये। वर्ड्सवथ, शेली, कीट्स, बायरन, स्विनबर्न कौन आलोचको का कोप-भाजन नहीं बना? वर्ड्सवर्थ की नवीन कला शैली को न समझने के कारण 'एडिनबरा रिव्यू' के प्रसिद्ध सम्पादक जैफरी

ने कहा : 'इससे कभी काम न चलेगा, मि० वर्ड्सवर्थ, कभी नहीं, कभी नहीं !' कीट्स के लिए 'ब्लैकवुड' ने लिखा : 'अपने दवाखाने को वापस जाओ, मि० कीट्स, और गोलियाँ बाँधो।' कहते हैं कि इस विषैली फूँक ने कवि का जीवन-दीप बुझा दिया। शैली और बायरन समाज से बहिष्कृत और तिरस्कृत, प्रवास मे जीवन-पर्यन्त रहे। स्विनबर्न जिसे शैली का पृथ्वी पर दूसरा जन्म मानते हैं, शैली की ही भाँति ऑक्सफर्ड से निकाला गया।

हम कूप-मंडूक बने भी सदैव नहीं रह सकते। जिस संकुचित वातावरण मे हम रहते आये हैं उससे निकल समय और संसार की गति भी हमें समझनी चाहिए। काल नदी प्रबल वेग से हमारी पीठ पीछे बह रही है। कब तक उधर से हम मुँह मोड़े रहेंगे ? जीवन गतिशील है, और हम साहित्यकार भी स्थिर नहीं रह सकते। जड़ता मृत्यु का लक्षण है। सबसे जरूरी बात और सुरुचि की पराकाष्ठा तो गुटबन्दी और व्यक्तिगत विद्वेष मे बचकर चलना है।

प्रत्येक युग और देश की रुचि भी भिन्न होती है। सत्साहित्य इस देश-युग-धर्म से ऊपर कुछ होता है। जो साहित्य शेक्सपियर के युग मे संगत और स्वाभाविक समझा जाता था, वह हमारी दृष्टि मे अश्लील है। किन्तु उसका महत्त्व अश्लीलता और युग-धर्म मे अलग उसकी जीवन-प्रेरणा पर निर्भर है। 'ऑथेलो' का अखंडित संस्करण क्लास में पढ़ाना असभव है, फिर भी 'ऑथेलो' ससार के सर्वश्रेष्ठ दु:खान्त नाटकों में है। चार्ल्स द्वितीय के युग मे अंग्रेजी नाटक की अश्लीलता ने अति कर दी। यह अश्लीलता राज-दर्बार के विलास की चीज थी, अतः इसे हम हेय समझते हैं।

इसी प्रकार रीतिकाल का हिन्दी काव्य राज-दर्बारो को विलास-सामग्री बन गया था। साहित्य की कसौटियो पर वह खरा सोना नहीं उतरता, क्योंकि उसकी अश्लीलता केवल मनोरंजन का साधन थी। वाल्मीकि की रामायण अथवा अन्य धर्मग्रथो में जो स्थल हम अश्लील समझते हैं, वे वास्तव में अश्लील नहीं। जीवन के किसी भी सच्चे

और सम्पूर्ण चित्र मे इस प्रकार का वर्णन अनिवार्य है। जीवन का एक अंश 'सेक्स' (Sex) भी है, यद्यपि जीवन 'सेक्स' से बढ़कर और भी कुछ है। इस प्रकार हमारे मंदिरो के ऊपर खिचे चित्र, हमारे धर्म-ग्रन्थो के कुछ अंश और आधुनिक साहित्य का यथार्थवाद वास्तव मे अश्लील नहीं।

सुरुचि के हमारे माप बदले हैं और पहले से अधिक प्रशस्त है। जब कला राजदर्बारो के ऊपर अपनी जीविका के लिए निर्भर थी, तब उसमे अश्लीलता की मात्रा भी अधिक थी, क्योकि अकर्मण्य, विलास-मय जीवन मे काम संबन्धी (सेक्स) चर्चा भी अधिक रहती है। लोक-जीवन पर निर्भर कला निर्मल और सच्ची होगी। वह जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण अगों को छुएगी। हमारा मध्यवर्ग जिसकी निर्मित संस्कृति मे हम साँस लेते है, अर्थ का तो उपासक है, किन्तु काम अथवा मोक्ष का नहीं। हमारी कला में अपेक्षाकृत अधिक संयम है। हिन्दी के आधुनिक काव्य की रीतिकाल के काव्य से तुलना कर देखिए, अथवा शॉ की शेक्सपियर से। शॉ तो 'प्यूरिटन' (Puritan) है, उसका संसार स्वच्छ निर्मल है। हिन्दी का आधुनिक काव्य रीतिकाल के चतुर प्रौढ़ नायक की तुलना में भोला शिशु है।

किन्तु जीवन के नग्न सत्य से हमें डरना भी उचित नहीं। जेम्स जॉयस का 'Ulysses' अंग्रेजी उपन्यास का एक दीप-स्तंभ समझा जाता है। वर्षों तक यह इगलैण्ड में छप न सकता था। उपन्यास के विद्यार्थी फ्रांस से इसकी प्रतियाँ लुक-छिपकर मॅगवाते थे। अभी इसके प्रकाशन की इङ्गलेण्ड मे इजाजत मिली है। डी० एच० लारेन्स का उपन्यास 'Lady Chatterley's Lover' जिसमे लेखक और पाठक के बीच कोई पर्दा नहीं रह गया, निर्मल साहित्य समझा गया है, जैसे किसी सर्जन के शस्त्र।

जो पाठक 'निराला' की 'बिल्लेसुर बकरिहा' अथवा 'चमेली' नहीं पढ़ सकते अथवा पंत की :

'उसके थे अविधो-से उरोज' पढ़कर चौकते हैं, वे निरामिष-भोजी

न जाने देव, मतिराम, बिहारी अथवा शेक्सपियर और कालिदास कैसे पचाते हैं। जॉयस और लारेन्स तो दूर की बात है।

आलोचक को यह देखना है कि चित्र मे एकरसता है अथवा नहीं। क्या लेखक केवल स्वच्छन्दता-वश अथवा बिक्री के ख्याल से असयत और अश्लील हो रहा है, अथवा जो विषय उसने उठाया है, उसमें निर्मम सत्य की आवश्यकता है? यह भी हमे नहीं भूलना चाहिए कि अश्लीलता-दोष होने पर भी कला का कुछ मूल्य हो सकता है। क्या वाल्मीकि, कालिदास और शेक्सपियर निकृष्ट कलाकार थे? जिस प्रकार की आलोचना हम आज भी देखते हैं, उसके सामने यह सभी दोषी होते। एक सीढ़ी उतरकर—क्या देव, बिहारी, केशव, मतिराम हिन्दी-साहित्य के दूषण हैं, क्योंकि अश्लीलता-दोष से वे भी परे नहीं?

जो सुरुचि की कसौटियाँ आज हिन्दी-साहित्य पर कुछ आलोचक लगा रहे हैं, उन पर कसने से यूरोप और भारत की चित्रकला, स्थापत्य-कला, अनेक देव-मन्दिर, बाइबिल, रामायण आदि तक दूषित माने जायँगे! संयम और प्रतिबंध की हमें आवश्यकता है। हमारी कला केवल विलास की चीज नहीं। किन्तु 'सुरुचि' आदि शब्द हमारे लिए लाल लत्ता भी न हो जायँ और हमारे पथ मे रोड़ा न अटकायें, इसका हमें ख्याल रखना होगा। यह शब्द हमारे उन्नत कलाकारों के काम में बाधा डाल सकते हैं।

हाल में 'निराला' के विरुद्ध ऐसी आवाज उठाई गई है। 'निराला' पिछले कुछ दिनों में द्रुत-वेग से हिन्दी-साहित्य में आगे कदम रख रहे हैं। वर्षों का मौन भंग कर उन्होंने दो सुन्दर कविता-पुस्तकें हिन्दी को भेंट की है: 'तुलसीदास' और 'अनामिका'। कुछ उपन्यास और कहानी के नवीन नमूने भी 'रूपाभ' में हमारे सामने आये हैं। यह टुकड़े उनकी प्रतिभा का एक सर्वथा नया अंग हैं। हमें सतर्क रहना होगा कि अनुचित आलोचना हिन्दी के इस उन्नत कलाकार को क्षति न पहुँचावे। ग्रामीण जीवन के ऐसे सच्चे चित्र हमें केवल स्व०

प्रेमचन्द से मिले थे। प्रेमचन्द 'आदर्शवादी थे, 'निराला' यथार्थवादी हैं। जीवन का कटु और कठोर सत्य सहने के लिए अब हमे तत्पर रहना चाहिए। निर्मम सत्य सुनकर ही समाज और साहित्य उन्नति करते हैं। पिछले वर्षों मे स्व० प्रेमचन्द ने भी 'कफन' ऐसी कहानियाँ लिखीं जिनमे काफी कड़वाहट है।

'निराला'जी के इन टुकड़ो मे हमे शक्ति का अन्दाज हुआ। पूर होने पर यह हिन्दी-साहित्य की विभूति होंगे। इन टुकड़ो को 'अश्लील' कहा गया है। जीवन मे चतुर्दिक अश्लीलता है, खोजने पर मनुष्य को पग-पग पर अश्लीलता मिलेगी। स्व० शरत बावू का प्रसिद्ध उपन्यास 'चरित्रहीन' जब सर्वप्रथम निकला, तब बँगला मे भी उसकी 'अश्लीलता' पर एक विवाद का ववण्डर चला। यूरोप के साहित्य मे तो इन बातो का कोई ध्यान तक नहीं करता। 'चरित्रहीन' का उठाया ववण्डर भी शांत हो गया और शरत् बावू का बाल बाँका न कर पाया।

हिन्दी का नव साहित्य अभी अंकुरित होकर फूल-फल रहा है। अभी डर है कि पत्रकारो की धर्मान्धता, तानाशाही अथवा पक्षपात उसे हानि न पहुँचावें। और विश्व-साहित्य के इतिहास-माप को भी हमें सामने रखना होगा। सकुचित वातावरण मे अब हमारा बढ़ता साहित्य साँस नहीं ले सकता।

कुछ दिन पहले ऑल्डस हक्सले ने एक छोटी-सी पुस्तिका 'Vulgarity in Literature' लिखी थी। उस ढग के लेख हिन्दी में देखने को नहीं मिलते। सुरुचि और कुरुचि के स्टैंडर्ड तो बदलते रहते हैं, सत्साहित्य जीवित रह जाता है। जो आलोचक कलाकारो का गला घोटते हैं, वह भी इतिहास में एक प्रकार का अमरत्व पा लेते हैं। तभी तो अंग्रेजी साहित्य के इतिहास मे 'जैफरी' अभी तक 'फॉसी देनेवाला जज' और 'लोखार्ट' (Lockhart) 'बिच्छू' की पदवी से विभूषित है।

साहित्य और संस्कृत

मनुष्य स्वभावतः कला-प्रेमी जीव है। आदिम युग से ही इसमें जगत् के मधुर स्वप्न को लेखबद्ध और चित्रबद्ध करने का प्रयत्न किया है। अब भी प्राचीन गुफाओं में और शिलाओं पर 'रेड इण्डियन्स' या 'निग्रो' जातियों के असुन्दर-से किन्तु प्रभावशाली चित्र हमें मिलते हैं। सुन्दर की इस खोज का संस्कृति से घनिष्ट सम्बन्ध है। यह खोज मनुष्य-मात्र की खोज है।

संस्कृति के अन्तर्गत कला और साहित्य के अतिरिक्त दर्शन-विज्ञान आदि की उन्नति भी शामिल है। वास्तव में किसी संस्कृति की उन्नति उस समाज की भौतिक और आर्थिक उन्नति के साथ बँधी है। ग़रीब व्यक्ति सुसंस्कृत हो सकता है, किन्तु गरीब समाज नहीं। समाज की बात वर्गों पर भी लागू होती है। इसी कारण हमारे शोषित वर्ग किसी गोर्की को पैदा नहीं कर सकते।

जातियों के इतिहास में कुछ अन्य मनोवैज्ञानिक कारण भी संस्कृति के विकास में सहायता पहुँचाते हैं। पारसी सेना का ग्रीस पर आक्रमण और ग्रीस की स्वाधीनता के लिए लड़ाई, नई दुनिया की सफल खोज, फ्रांस की राज्यक्रान्ति, महासमर—योरपीय संस्कृति के विकास में स्मरणीय घटनाएँ हैं, यद्यपि मूल में ये भी आर्थिक समस्याएँ थीं। आजकल भारतीय संस्कृति का पुनर्जन्म हो रहा है। इसका कारण भारत की राष्ट्रीय जाग्रति है।

आर्य-आगमन से पूर्व भी इस देश में एक आदिम संस्कृति व्यापक रूप में मौजूद थी। इसके चिह्न मोहेंजोदारो और हरप्पा में अवशिष्ट हैं। उसकी एक अटूट धारा द्राविड़ संस्कृति के रूप में दक्षिण में वर्तमान है। आर्य जाति ने प्रकृति के मधुर और रौद्र रूप से प्रेरणा पा अमर छन्दों की रचना की। आर्य जाति क्रमशः भोजन की खोज में भ्रमना छोड़ पंचनद और गंगा की उर्वर भूमि में बस एक कृषि-प्रधान संस्कृति

की रचना कर गई जिसमे सूर्य, वरुण और इन्द्र की उपासना प्रधान है, और इन्हीं शक्तियो को इस जाति ने अपने काव्य का अर्घ्य दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य और संस्कृति में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है और जाति-विशेष की संस्कृति और उसकी सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में संस्कृति समाज से अलग कोई हवा में तैरती दैवी वस्तु नहीं जिसे 'सत्य शिवं सुन्दरम्' कहते हैं। वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर का रूप भो युग-विशेष और समाज-विशेप के अनुकूल बदला करता है। जीवन स्थिर, जड़, अचल नहीं—पल-पल पर परिवर्तित और विकासमान है।

अब पल भर भारतोय संस्कृति और साहित्य के सम्बन्ध को देखना चाहिए। आदिम युग से जब हम इतिहास के आलोक में आते है, तभी से भारतीय संस्कृति सामन्तीय व्यवस्था मे पोपित हुई है। राज सभाओ मे इसका लालन-पालन हुआ। कालिदास और भवभूति राजकवि थे। चन्द बरदाई और जगनिक राज दरबारो के चारण थे। इसके प्रतिक्रियास्वरूप जनता की संस्कृति का जन्म अलग हुआ जिसका पालन पोपण जन-पथों पर हुआ। इस संस्कृति में अदम्य शक्ति प्रवाह था और इसकी लहरों को बाढ़ दरबारो तक पहुँची। इस संस्कृति को भक्ति-पथ कहा गया। अनन्य जीवनी-शक्ति के कारण ही भक्ति-कला के काव्य को हम इतना महत्त्व देते हैं। किसी संकुचित वर्ग की रुचि का भोजन अथवा विलास-सामग्री वह कविता न थी। जन-पथ के मनोभाव इस कविता मे प्रतिबिम्बित हैं।

रीतिकाल का काव्य इसके ठीक विपरीत एक वर्ग-विशेप का अनुचर रहा। उसका जीवन राजसभाओं के संकुचित वातावरण में बीता। इस कारण अब भी एक सूक्ष्म गुट ही इस कविता का विलास भोग सकता है। यह कहा जाता है कि संस्कृति जग-साधारण के भोग की वस्तु नहीं। इसका उपभोग बिरले भाग्यवान् ही कर सकते हैं जिनको भगवान् अवकाश में यत्न से गढ़ता है। किन्तु तुलसी अथवा सूर तो किसी संकुचित वर्ग की सम्पत्ति नहीं। बर्न्स (Burns) ने किसान

होते हुए भी उच्च कोटि की काव्य-रचना की और कबीर ने निम्न श्रेणी का जुलाहा होते हुए अथवा रैदास ने चमार होते हुए भी हिन्दी में अच्छी कविता की। संस्कृति किसी वर्ग की पूँजी नहीं। यह सच है कि इतिहास के चक्र-परिवर्तन से सत्ता जिस वर्ग के हाथ में रहती है, संस्कृति उसके अनुकूल होती है।

कालान्तर में सामन्तीय सत्ता का अन्त हुआ और मध्य-वर्ग की संस्कृति का सिक्का संसार में चला। पहले मध्य वर्ग भी संस्कृति के लिए अपदार्थ समझा जाता था और संस्कृति केवल सामन्तीय वर्ग की निधि समझी जाती थी। सामन्तीय संस्कृति में विलास और भोग की बू थी। इसकी प्रतिध्वनि हमें मध्य युग के साहित्य में भी मिलती है :

> 'कुन्दन से आँग माँग मोतिन सँवारी सारी
> सोहत किनारो वारी केसर के रंग की।'

अथवा,

> 'चरन धरै न भूमि विहरे तहाँई जहाँ
> फूले-फूले फूलन बिछायो परजंक है।'

अनुप्रासमयी भाषा में 'प्याला, मसाला, तान, तुक ताला' खोजते हुए इस कविता का कृत्रिम, अस्वाभाविक जीवन बीता।

फ्रांस का राष्ट्र-विप्लव सामन्तशाही के अन्त-दिवस की सूचना थी, यद्यपि नई दुनिया की खोज के साथ-साथ ही एक नवीन संस्कृति की बुनियाद पड़ चुकी थी। पूँजीवाद पर यह संस्कृति अवलम्बित है और रुपया इसका जीवन प्राण है। धन के बल पर ही इस संस्कृति का उपभोग हो सकता है। संगीत, साहित्य और कला का रस धनवान ही ले सकते हैं। निर्धन के लिए इस मन्दिर के द्वार बन्द हैं।

इस व्यवस्था को न्यायसङ्गत सिद्ध करने के लिए धर्म और दर्शन का आश्रय लिया जाता है। कला और साहित्य के पारखी कुछ मुट्ठी

भर जौहरी ही हो सकते है। गलियों में हीरे की पहचान करनेवाले कहाँ ? परमात्मा ने बुद्धि सबको एक समान नहीं दी, न धन। जीवन की इस विशिष्ट निधि को विरले ही परख पाते है, इत्यादि।

भारत मे विदेशी शासन के कारण मध्य-वर्ग की सत्ता अभी तक नहीं जम पाई है। सामन्तशाही का यहाँ अब भी प्रभुत्व अवशेष है। विदेशी पूँजी का सिक्का यहाँ चलता है। अतः, भारतीय मध्य-वर्ग संस्कृति का स्वप्न ही देखा करता है। स्वाधीन होने की अभिलाषा ने अवश्य भारतीय साहित्य और कला मे जीवन-संचार किया है।

जीवन की भौतिक परिस्थितियो से निराश होकर यह साहित्य अन्तर्मुखी हो रहा है और घोर निराशा के वातावरण मे अपना जीवनयापन करता है। पराजित और हताश भारतीय मध्य-वर्ग का कवि क्रन्दन कर उठता है :

'मैं जीवन में कुछ कर न सका।
जग में अँधियाला छाया था,
मैं ज्वाला लेकर आया था,
मैंने जलकर दी आयु बिता
पर जगती का तम हर न सका।'

जीवन की कठोर वास्तविकता भूलकर हमारे मध्य-वर्ग का कलाकार कुछ गीत रचता है। इस प्रवृत्ति का नाम शिष्ट भाषा मे छायावाद है। इस प्रकार हमारी सामाजिक व्यवस्था की छाप हमारी संस्कृति और कला पर है।

हम रटा सबक दुहराते हैं कि संस्कृति सर्वसाधारण के लिए वर्जित ही रहेगी। हम शाश्वत सत्य की बात करते हैं। संस्कृति हमारी समझ मे कोई परम सुकुमार और कोमल चीज है जिसका जीवन रेशम के डोरो से बँधा है और स्वप्न की भाँति सहज-भग्न है। अतः, सर्व-साधारण और संस्कृति ये दो परस्पर विरोधी माने जाते हैं।

शायद इस कल्पना की संस्कृति मे पला मनुष्य मदिर अलस स्वप्नो

की दुनिया में रहता है, कभी स्वर ऊँचा कर नहीं बोलता और 'कलेजा' ऐसे बीभत्स शब्द का प्रयोग नहीं करता। वह रेशमी वस्त्र पहने कोमल संगीत सुनता है, अथवा किसी छायावादी कवि के छन्द गुन-गुनाता है।

संस्कृति का रूप इससे कहीं व्यापक है। ज्ञानवान मनुष्य ही सुसंस्कृत है और क्षुद्र व्यवहार-जन्य बातों तक ही उसके संस्कार सीमित नहीं। ज्ञान के प्रसार के साथ-साथ संस्कृति का भी व्यापक प्रसार होगा और वर्गहीन समाज में—जहाँ धन ही मनुष्य की परख नहीं और रुपये के मोल संस्कृति नहीं बिकती—मनुष्य मात्र संस्कृति को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझेगा।

इस नवीन जनसत्तात्मक संस्कृति की हम कुछ कल्पना कर सकते हैं। धन अथवा शक्ति की उपासना इस संस्कृति के अन्तर्गत न होगी और एक अनन्य रस और आनन्द से विभोर इस संस्कृति के साहित्य और कला होंगे और जीवन के प्रति उनमें अदम्य उत्साह होगा।

यह चित्र निरा काल्पनिक नहीं। मास्को के नाटकगृहों में लाखों की भीड़ जमा होती है। वहाँ के वर्गहीन समाज में संस्कृति पैसे की क्रीतदास नहीं और कला-जीवन से विमुख परियों के लोक में शरण नहीं लेती। जीवन की एक महान शक्ति कला है और प्रगति की प्रतीक है। रूस के जन-समाज की कला आज प्रबल जीवन-शक्ति पाकर बढ़ रही है और किसी संकुचित गुट तक ही सीमित नहीं। यूरोप के पूँजीवाद में पले कलाकार भी रूसी चित्रपट की नकल करते हैं और रूस के मजदूर कलाकार गोर्की का घर-घर आदर है।

यह कहा जाता है कि कला और संस्कृति के मूल सिद्धान्त अटल-अमर हैं। जीवन बदलता है किन्तु सत्य शाश्वत है। हम देख चुके हैं कि संस्कृति का जीवन भी युग-धर्म मानकर चलता है। पहले संस्कृति पर उच्च कुलों का अधिकार था फिर धनवानों का। यह बात

हम सामूहिक संस्कृति के लिए कहते हैं, वैसे अनेक निम्न-कुल और निर्धन कलाकारों ने तपस्या कर संस्कृति की सेवा की है।

सत्य का रूप बदलता रहता है। आज यही सत्य-धर्म हम मानकर चलते हैं कि मनुष्य-मनुष्य के बीच अन्तर रहेगा, जीवन का रस बिरले ही लूट सकते हैं और परमात्मा धनी का साथ देता है। सत्य का यह नीचा रूप भी काल के गाल में विलीन हो जायगा और संस्कृति का यह सकुचित आदर्श भी बदलेगा कि वह एक सूक्ष्म गुट के ही उपभोग के लिए बनी है।

मनुष्य के बीच की दीवारें टूट रही हैं। इस जन-सत्ता के युग में जो व्यक्ति इस भ्रान्ति का प्रचार करते हैं कि समाज या सस्कृति का यह रूप स्थायी है, वे प्रगति के पथ मे रोड़ा बनते हैं। कुछ देशो में सत्ता और शक्ति जनसमाज के हाथ में आ रही है। वहाँ चित्रशालाएँ खुल रही हैं, 'पार्कस' में शाम को संगीत होता है, नित्य-प्रति 'रेडियो' समाचार वितरण करता है और उच्च कोटि का साहित्य सस्ती पुस्तको द्वारा जनसमूह के पास पहुँच रहा है। हमारे देखते-देखते एक व्यापक विस्तृत संस्कृति का प्रसार जग में हो रहा है। फिर हम कैसे कह सकते हैं, 'जग बदलेगा किन्तु न जीवन ?'